हमारे यहाँ उपलब्ध ग्रन्थ प्रकाशन

1. आदर्श नित्य नियम पूजा (सर्वश्रेष्ठ रचना के रूप में पुरस्कृत) द्वितीय संस्करण पद्य रचयिता–कविभूषण अमृतलाल चंचल । मूल्य : ५० पैसे ।

2. जैन साधु कौन ?:—लेखक–बिरधीलाल सेठी । मूल्य १) रुपया

3. षडावश्यकों एवं मूर्तिनिर्माण में विकृतियाँ (द्वितीय संस्करण) लेखक–पं० भँवरलाल पोल्याका, जैन दर्शनाचार्य, साहित्यशास्त्री । प्राक्कथन–प्रो० प्रवीणचन्द्र जैन । मूल्य : ५० पैसे

4. अरहंत प्रतिमा का अभिषेक जैन धर्म सम्मत नहीं (तृतीय संस्करण) लेखक—स्व० पं० बंशीधर शास्त्री एम. ए. । प्रस्तावना–डा० हुकमचंद भारिल्ल, एम.ए., पी-एच.डी., शास्त्री, न्यायतीर्थ । मूल्य ८० पैसे

5. पद्मावती आदि शासन देवों, होम, हवन, मन्त्र, तन्त्र संबंधी मिथ्यात्व (द्वितीयावृत्ति परिवर्धित) लेखक–श्री बिरधीलाल सेठी । मूल्य ८० पैसे ।

प्राप्ति स्थान :—

1. जैन संस्कृति संरक्षण समिति (पता मुखपृष्ठ पर) ।
2. वीर पुस्तक भण्डार, मनिहारों का रास्ता, जयपुर–३०२००३
3. रतनलाल जैन एण्ड ब्रदर्स, मेहता भवन, एम० टी० क्लोथ मार्केट, इन्दौर ४५२००२ (म.प्र.)

प्रचारार्थ–प्रकाशक को मनीआर्डर द्वारा मूल्य पेशगी भेजने पर–२५ रु० की पुस्तकों पर रजिस्ट्री खर्च नहीं लिया जावेगा और ५० रु० मूल्य की पर २०% तथा १०० रु० या इससे ज्यादा की कीमत पर २५% डिस्काउण्ट भी दिया जावेगा ।

श्री वीर प्रेस, जयपुर–3

जैन मूर्ति पूजा

में व्याप्त विकृतियाँ

लेखक—

बिरधीलाल सेठी

प्रकाशक :

जैन संस्कृति संरक्षण समिति

8, अरविन्द पार्क, टोंक फाटक, जयपुर-302015

तृतीयावृत्ति संशोधित
3000 प्रतियाँ फरवरी 1985

मूल्य :
2 रु० मात्र

जैन मूर्ति पूजा

में व्याप्त विकृतियाँ

लेखक :

बिरधी लाल सेठी

प्रकाशक :

जैन संस्कृति संरक्षण समिति,

8, अरविंद पार्क, टोंक फाटक, जयपुर–302015

प्रस्तावना, प्राक्कथन एवं अभिमत

सिद्धांताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

विद्यावारिधि इतिहासरत्न डा० ज्योतिप्रसाद जैन

डा० नथमल टाटिया

फरवरी, 1985

तृतीयावृत्ति संशोधित,

3000 प्रतियाँ

मूल्य–

दो रुपया मात्र

* अनुक्रम *

विषय	पृष्ठ
जैन संस्कृति संरक्षण समिति	3
प्राक्कथन	4
प्रस्तावना	5
लेखक का आत्मनिवेदन	10
उपासना क्यों और कैसे —	11 से 24
विश्व व्यवस्था	11
जीव के दुःखों का कारण कषाय भाव	11
दुःखों से मुक्ति का उपाय कषाय मुक्ति	12
भेद विज्ञान पहली आवश्यकता	14
प्रतिक्रमण	16
मन के स्वामी बनो	17
शुद्धात्मानुभव का भ्रम	18
पुण्य संबंधी भ्रम	20
क्रमबद्ध पर्याय संबंधी भ्रम	21
उपासना के लिए मूर्ति की आवश्यकता	22
उपासना पद्धति में आई हुई विकृतियाँ—	25 से 58
मांगने के लिए प्रार्थना करना धर्मानुकूल नहीं	25
प्रचलित अष्ट द्रव्य पूजा जैनधर्म सम्मत नहीं	28
आवाहन, विसर्जन भी व्यर्थ की क्रियाएँ हैं	41
मूर्तियों पर व मंदिरों में आडम्बर, प्रदर्शन	42
पंचकल्याणक प्रतिष्ठा	45
क्या पूजा उपासना व्यवहार धर्म है	58
उपसंहार—	60
अभिमत	64

जैन संस्कृति संरक्षण समिति

इस समिति के सदस्य निम्न नियमों के पालन को प्रतिज्ञाबद्ध होंगे —

(1) नित्य जिनेन्द्र उपासना एवं स्वाध्याय करना (2) मद्य, मांस, मधु, अंडा, नशीले पदार्थ, त्रसहिंसा-जन्य आहार, अनछना जल व रात्रि में अन्नाहार का त्याग। (3) लोक व्यवहार में जीवन प्रामाणिक बनाए रखना और नैतिकता के नियमों के पालन का पूर्ण ध्यान रखना (4) अपने घर के लड़के के विवाह के लिए लड़की वाले से किसी भी प्रकार के लेनदेन की मांग व ठहराव नहीं करना, विवाह में दिखावा व प्रदर्शन न करना, न होने देना, जैन पद्धति से फेरे तथा सब कार्य दिन में ही सादगी से सम्पन्न कराना, ट्विस्ट (बाल डांस) नहीं होने देना, (5) जैन समाज में ही विवाह सम्बन्धों को एवं सामूहिक विवाहों को प्रोत्साहन देना (6) मृत्यु से सम्बन्धित किसी भी प्रकार का भोजन स्वयं करना, न अन्य किसी के यहाँ मृत्यु भोज के लिए बनाया भोजन करना (7) जिनेन्द्र के सिवा अन्य रागी द्वेषी देवी-देवताओं (पद्मावती क्षेत्रपाल आदि) की उपासना, भक्ति व सम्मान नहीं करना, न सहयोग करना (8) जिन प्रतिमा पर पंचामृत अभिषेक नहीं करना, न सहयोग देना (9) उपासना में हवन नहीं करना, आरती नहीं करना, सचित्र फल पुष्प आदि नहीं चढ़ाना, न सहयोग देना (10) जिन प्रतिमा पर केशर नहीं लगाना, पुष्प नहीं चढ़ाना, भ० के चित्र को पुष्प-माला नहीं पहनाना, न सहयोग देना (11) केवल जाति व वर्ण के आधार पर किसी को नीच नहीं मानना न इसमें सहयोग देना तथा किसी के उसके योग्य धार्मिक क्रियाओं के करने के अधिकार में बाधक नहीं बनना।

कृपया अधिक से अधिक संख्या में प्रतिज्ञा फार्म भरकर और एक रुपया प्रवेश शुल्क भेजकर समाज सुधार के इस महत्वपूर्ण संगठन को मजबूत बनावें।

संयोजक

प्राक्कथन

(प्रथमावृत्ति के समय लिखित)

'जैन मूर्तिपूजा में व्याप्त विकृतियाँ' पुस्तिका की पांडुलिपि का अवलोकन किया। लेखक प्रौढ़ अनुभवी चिन्तक हैं और वर्तमान समाज में प्रचलित कतिपय कुरीतियों, विशेषकर उपासना पद्धति विषयक विकृतियों से क्षुब्ध हैं। क्षोभ उचित ही है। हमारी मूर्तिपूजा, उपासना पद्धति और देवाराधन के उद्देश्यों में कालदोष से अनेक विकृतियाँ एवं रूढ़ियाँ प्रविष्ट हो गई हैं, इसमें सन्देह नहीं है। उनमें से अनेक तो ऐतिहासिक कारणों से अथवा विकास क्रम के स्वभाव से उत्पन्न हुई हैं, किन्तु अन्य अनेक का श्रेय दूसरों के अन्धानुकरण, स्थितिपालकता, हमारी हीन भावना और जिन धर्म तथा जैनी उपासना पद्धति के स्वरूप एवं लक्ष्य के विषय में अनभिज्ञता को है। **लेखक महोदय ने एक महत्त्वपूर्ण सामयिक समस्या की ओर ध्यान दिलाकर समाज-मानस को झकझोरने का सद्प्रयास किया है, जिसके लिए वह साधुवाद के पात्र हैं।** जिन मन्दिरों में जिन-प्रतिमाओं के माध्यम से देवोपासना का विरोध करना लेखक को अभीष्ट नहीं है, किन्तु वह उपासना प्रशस्त गुणानुराग द्वारा कषायों को मंद करने वाली, आत्मानुशासन, संयम और सदाचरण को प्रोत्साहन देने वाली और उनका पोषण करने वाली हो, अतः व्यर्थ के आडम्बर एवं विषय-कषाय पोषक तत्वों से मुक्त रहे, यह वांछनीय है। कालदोष तथा निहित स्वार्थों के कारण विकृतियों का कूड़ा करकट तो प्रायः प्रत्येक सम्प्रदाय के आचार-विचारों में जमा होता ही रहता है और समय-समय पर उक्त दोषों से आचार-विचार को स्वच्छ साफ करने का प्रयत्न भी सुधारकों को करना ही पड़ता है जिससे कि वे बहुत कुछ अपने प्रकृत रूप में बने रहें और समाज लक्ष्य-भ्रष्ट न हो जाय।

ज्योतिप्रसाद जैन
ज्योति निकुंज
चारबाग, लखनऊ

प्रस्तावना

(प्रथमावृत्ति के समय लिखित)

जैन धर्म में मूर्तिपूजा की परम्परा सर्वाधिक प्राचीन है। पटना के लोहानीपुर स्थान से जो जैन प्रतिमा प्राप्त हुई थी वह अब तक की उपलब्ध मूर्तियों में सर्वाधिक प्राचीन मानी जाती है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने तो अपने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है कि जैनों से ही हिन्दू धर्म में मूर्तिपूजा का प्रवेश हुआ है। मूर्ति तो तीर्थंकर आदि की प्रतिकृति होती है। इसी से सब तीर्थंकर प्रतिमाएँ ध्यानावस्था में ही अंकित मिलती हैं। यद्यपि तीर्थंकर होने पर इस प्रकार ध्यान नहीं लगाते हैं किन्तु जब वह मोक्षोन्मुख होते हैं तब ध्यानस्थ होकर ही मुक्ति प्राप्त करते हैं। वही रूप आदर्श माना गया है। उसी रूप के आदर-सत्कार स्तुति आदि को मूर्तिपूजा कहा जाता है। यथार्थ में वह मूर्ति की पूजा नहीं है किन्तु जिसकी वह मूर्ति है उस मूर्तिमान की ही पूजा है।

जैन दर्शन में नय की तरह निक्षेप भी होते हैं और वे चार हैं नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। जिन, तीर्थंकर आदि भी चार रूप होते हैं। किसी व्यक्ति का नाम यदि जिन या तीर्थंकर है तो वह नाम जिन है और मूर्ति आदि में प्रतिष्ठित जिन स्थापना जिन हैं तथा जो जीव भविष्य में जिन होने वाला है वह द्रव्यजिन है तथा समवसरण में विराजमान साक्षात् जिन भावजिन हैं। इनमें से नामजिन को छोड़कर शेष तीनों यथायोग्य आदर के पात्र माने गये हैं। इनमें से आज स्थापना जिन ही माने पूजे जाते हैं और उनकी स्थापना विधि पूर्वक ही होना आवश्यक है। यदि प्रतिष्ठाविधि को समाप्त कर दिया जाये तो जयपुर से खरीद कर गणेश आदि की मूर्तियों की तरह घर-घर में मूर्तियाँ दिखाई देने लगें और उनका सम्मान भी वैसा ही होने लगे। इसलिए प्रतिष्ठाविधि तो आवश्यक है किन्तु लोभी प्रतिष्ठाचार्यों के कारण प्रतिष्ठाविधि ने जो रूप ले लिया है और जिस प्रकार अनावश्यक मूर्तियों का बाहुल्य होता जाता है उससे प्रतिष्ठाविधि की प्रतिष्ठा धूमिल होगई है और वह एक नाटक जैसा रह गया है। उसमें विधि तो नाम मात्र की होती है और प्रदर्शन का ही बाहुल्य रहता है। अस्तु,

मूर्ति पूजा का उद्देश्य–आचार्य समन्तभद्र ने अपने स्वयंभू स्तोत्र में वासुपूज्य भगवान के स्तवन में कहा है– भगवन् ! आप वीतराग हैं इसलिये आपका अपनी पूजा से कोई प्रयोजन नहीं है और आप वीतरागी हैं इसलिये निन्दा से भी प्रयोजन नहीं है अर्थात् न तो पूजा से आप प्रसन्न होते हैं और न निन्दा से अप्रसन्न होते हैं । फिर भी आपके पुण्य गुणों का स्मरण हमारे चित्त को पाप की कालिमा से बचाता है । यह मूर्तिपूजा का उद्देश्य है । पुनः वे कहते हैं–भगवन् ! आपकी पूजा करने वाले को पाप थोड़ा ही लगता है किन्तु पुण्य बहुत होता है । अतः वह थोड़ा पाप दोष कारक नहीं है । जैसे अमृत के समुद्र में विष की कणिका दोष पैदा नहीं कर सकती । आचार्य का उक्त कथन पूजन में होने वाले आरम्भ-जन्य पाप को लक्ष्य में रखकर है । मन्दिर–निर्माण मूर्ति–निर्माण, उनकी प्रतिष्ठाविधि, पूजा अभिषेक का आरम्भ यह सब सावद्यलेश के कारण है । अतः इनमें भी जितना ही कम आरम्भ हो उतना ही श्रेयस्कर है ।

हमारा मत है कि हिन्दू पूजा विधि का प्रभाव जैन पूजा विधि पर पड़ा है । इसके साथ ही कृष्ण भक्ति और राम भक्ति की सकाम उपासना विधि ने जैन भक्ति मार्ग को एक–दम दूषित कर दिया है । **आज तो ईश्वर भक्ति में और जिन भक्ति में कोई अन्तर नहीं रहा ! वीतरागी जिन भी सृष्टिकर्ता हर्ता ईश्वर के प्रतिरूप बन बैठे हैं । जैनों का सच्चा स्तुति-वाद तो समाप्त जैसा हो गया है । आज का भोगाकांक्षी पुरुष और स्त्री समाज लौकिक तृष्णाओं से इतना आक्रांत है कि वह जिन मंदिर में जिन मूर्ति की उपेक्षा करके भी पद्मावती को पूजता है ।** उसके मनमें यह श्रद्धा बैठा दी गई है कि भगवान तो वीतरागी हैं वह कुछ देते लेते नहीं हैं । तू शासन देवों को पूज । इस प्रकार की श्रद्धा में शासन देवताओं के हिमायती, आचार्य मुनि और आर्यिका माताओं का विशेष हाथ है । वीतरागता का बाना धारण करके हमारे ये गुरु स्वयं तो दुर्गति के पात्र बनेंगे ही अपने भक्तों को भी अपने साथ ही ले जायेंगे । उनका द्रव्य पर इतना आग्रह रहता है कि भाव की ओर ध्यान ही नहीं जाता । शुद्ध जल से अभिषेक ये नहीं देख सकते । इन्हें तो दूध दही घी की बहार चाहिये । ये गृहस्थों को प्रेरणा देते हैं

कि गन्धोदक पान करो । आज मन्दिरों में ही हमने गन्धोदक पान कर मुँह जूठा करते देखा है । ये नहीं जानते यह पान किया हुआ गन्धोदक पीने वाले के पेशाब के रास्ते से बाहर जाने वाला है । **क्या दुर्गति की है हमारे इन धर्मगुरुओं ने । इनका फतवा है कि सूखे फल चढ़ाने से सूखा फल मिलेगा तरमाल चढाओगे तो तरमाल पाओगे । यह क्या जैन धर्म है या हिन्दू धर्म है ?**

जैन धर्म तो भाव-प्रधान है । भाव के अभाव में मूल्यवान द्रव्य का भी कुछ मूल्य नहीं है । द्रव्य की भी शुद्धि का महत्व है । पूजा में हम प्रतिदिन पढ़ते हैं–'द्रव्यस्य शुद्धिमधिगम्य यथानुरूपं, भावस्य शुद्धिमधिकामधिगन्तु कामः अर्थात् द्रव्य की यथायोग्य शुद्धि को पाकर मैं भाव की अधिक शुद्धि प्राप्त करने का इच्छुक हूँ । अतः शुद्ध द्रव्य से भावशुद्धि पूर्वक ही जिनेन्द्र की पूजा करनी चाहिये । जो द्रव्य का आलम्बन लिये बिना भी अपने मन वचन काय को एकाग्र करने में समर्थ हैं वे केवल भाव पूजा कर सकते हैं । द्रव्य पूजा और उसकी विधि के सम्बन्ध में हमने भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित सोमदेव उपासकाध्ययन की प्रस्तावना में विस्तार से प्रकाश डाला है । विशेष जानने के इच्छुक पाठक वहां से देख सकते हैं ।

भावशुद्धि के लिए लौकिक इच्छा का न होना भी आवश्यक है। जिन पूजन या दर्शन करते समय जिनके मन में विषयों की चाह है उनका मन शुद्ध कैसे हो सकता है ? इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग और शारीरिक आदि कष्ट दूर करने की भावना से या परलोक में स्वर्गादि सुख की प्राप्ति की भावना रखकर जिन पूजन या जिन दर्शन करने वालों का मन जिन भगवान की भक्ति में कम और अपनी इच्छा की पूर्ति में ज्यादा रहता है । ऐसी अवस्था में उन्हें जिन भक्ति से होने वाला पुण्य बन्ध या तो होता नहीं या कम होता है । और ऐसा होने से उनके कष्टों का कारण जो अशुभ कर्म का उदय है वह मन्द नहीं होता और उसके मन्द हुए बिना उनका कष्ट दूर नहीं होता ।

अभी तक समझदार भी यह नहीं जानते कि भगवान की भक्ति से कष्ट कैसे दूर होते हैं । वे यही समझते हैं कि भगवान भक्ति से

प्रसन्न होकर ऐसा करते हैं। प्रतिदिन सामायिक करने वाला श्रावक सामायिक पाठ में पढ़ता है—"अपने द्वारा बांधे गये कर्म के सिवाय इस जीव को कोई भी कुछ नहीं देता है। ऐसा विचार कर 'कोई दूसरा देने वाला है, इस बुद्धि को ही छोड़ देना चाहिये।" ईश्वर को कर्ता हर्ता मानने वाले भी यही मानते हैं कि जीव कर्म करने में स्वतंत्र है। कर्म के अनुसार ही ईश्वर फल देता है। तुलसीदास जी ने कहा है—

'कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहि सो तस फल चाखा'॥

समझदार भी उस भगवान को अच्छा मानते हैं जो देता है। किन्तु इसमें बड़ा खतरा है। यदि हमारे तीव्र अशुभ कर्म का उदय है तो उसमें भगवान क्या कर सकते हैं। आपने अपनी श्रद्धा के अनुसार भक्ति पूजा की भी किन्तु यदि आप इतना पुण्यार्जन नहीं कर सके जो आपके अशुभ कर्म के उदय में मन्दता आ सके तब आप अपने को दोष न देकर भगवान को दोष देंगे और इससे आपकी श्रद्धा को भी हानि पहुँचेगी। यह भी सम्भव है कि आप उन भगवान को त्याग कर किसी दूसरे दाता भगवान को अपनालें और इस तरह अपना धर्म ही छोड़ बैठें।

अतः संसार के सुख की भावना से धर्म करने में तो खतरा ही खतरा है। धर्म का एक मात्र लक्ष्य संसार के बन्धन से छुटकारा ही है और उसी लक्ष्य को सामने रखकर ही भक्ति आदि भी करना चाहिए। ऐसा करने से परम्परा से मुक्ति तो मिलेगी ही संसार के दुःखों से भी छुटकारा मिलेगा।

संसार के सभी धर्मों के मानने वाले लौकिक फल की प्राप्ति के लिये ही अपने-अपने देवता की आराधना करते हैं और उन्हें भी फल की प्राप्ति होती है तो क्या सभी देव इस दृष्टि से अच्छे नहीं कहलायेंगे? फिर सच्चे और मिथ्यादेव का भेद कैसे रहेगा? संसार के सभी देव रागी हैं और वीतरागी देव केवल एक ही है। किन्तु अपने राग के कारण हम वीतरागी देव का मूल्यांकन नहीं कर सकते। तभी तो भगवान पार्श्वनाथ की भक्ति छोड़कर

उनके उपासक पद्मावती की उपासना करते हैं और धन के लोभ से मिथ्या देवों के उपासक बनकर अपने संसार को अनन्त करते हैं।

इसी का बोध कराने के लिये श्री सेठीजी ने यह छोटी सी पुस्तिका लिखी है। मूर्ति पूजा तो जैन धर्म से असंगत नहीं है। हाँ उसमें जो विकार पैदा हो गया है वह असंगत है और उससे मूर्तिपूजा एक बिडम्बना जैसे हो गई है। किन्तु मूर्ति का दर्शन और पूजन मूर्तिमान का दर्शन और पूजन है और उससे दर्शक और पूजक का लाभ होता है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचनसार में कहा है—

"जो द्रव्य गुण पर्याय रूप से अर्हन्त का स्वरूप जानता है वह अपना स्वरूप जानता है और जो अपना स्वरूप जानता है उसका मोह दूर हो जाता है।"

अतः देव दर्शन और देव पूजन का लक्ष्य देव के यथार्थ स्वरूप की भावना भाते हुए उसके सम्मुख अपने दोषों को दूर करने की चिन्ता करना है।

कैलाशचन्द्र शास्त्री
अधिष्ठाता
श्री स्याद्वाद महाविद्यालय,
भदैनी, वाराणसी

आत्म-निवेदन

गत 5 वर्षों में इस पुस्तिका के पाँच पाँच हजार प्रतियों के दो संस्करण समाप्त हो चुके हैं और मांग बराबर बनी हुई है। एक दर्जन प्रतियां तो अमरीका की लाइब्रेरियों के लिए भी मंगवाई गई थीं। द्वितीय संस्करण के बाद अष्ट द्रव्य पूजा आदि विकृतियों के समर्थन में इन्दौर से प्रकाशित दो पुस्तकें "जिन पूजा/जिन मंदिर" तथा "जैन दर्शन में उपासना एवं स्याद्वाद" मेरे देखने में आई हैं। इस संस्करण में उनमें उठाये मुद्दों पर विस्तार से विवेचन करके आवश्यकतानुसार समाधान कर दिया गया है। पद्मावती आदि शासन देवों, तथा होम, हवन, मंत्र, तंत्र संबंधी मिथ्यात्व संबंधी विकृतियों पर "पद्मावती आदि शासन देवों, होम, हवन, मंत्र, तंत्र, संबंधी मिथ्यात्व" शीर्षक स्वतंत्र पुस्तिका में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है अतः वे विषय कम कर दिये गये हैं। स्थान स्थान पर और भी सुधार किये गये हैं तथा नई बातें बढ़ाई गई हैं। आशा है पाठक इस संस्करण को अधिक उपयोगी पावेंगे और अपने विचारों से मुझे अवगत करने का कष्ट करेंगे।

इस संस्करण का प्रकाशन जैन संस्कृति संरक्षण समिति ने किया है, इसके लिए मैं उसके संयोजकों का आभारी हूँ।

बिरधीलाल सेठी

दि० 25 फरवरी 1985
8, अरविंद पार्क, टोंक फाटक
जयपुर-302015 फोन : 78628

उपासना क्यों और कैसे...?

विश्व-व्यवस्था—जैसा कि आधुनिक विज्ञान मानता है, जैन धर्म की भी प्राचीन काल से यही मान्यता है कि इस विश्व का निर्माता व नियंता कोई नहीं है, यह विश्व अनादिकाल से ऐसा ही चला आरहा है और अनंत काल तक ऐसा ही चलता रहेगा। विश्व रचना के छह मूलभूत तत्व माने गये हैं जो ये हैं:—(1) जीव (आत्मा soul) (2) पुद्गल (matter) (3) धर्म (Principle of motion) (4) अधर्म (Principle of rest) (5) आकाश (space) (6) काल (time)। वे अपने अपने स्वभाव के अनुसार परिणमन करते रहते हैं और उसी से यह विश्व व्यवस्था चल रही है। इनमें जहां जीव चेतन हैं, उन्हें सुख-दुख अनुभव होता है वहां शेष पांच द्रव्य अचेतन हैं।

जीव के दुखों का कारण कषाय भाव—जीव अनन्त हैं। वे अनन्तकाल से क्रोध, मान (अहंकार), माया (कपट), लोभ (तृष्णा) रूपी कषाय के संस्कारों से ग्रस्त हैं। क्रोध का आशय मात्र बाह्य क्रोध से ही नहीं है मन में दूसरों के प्रति द्वेष-भाव होना ही क्रोध है। धन, विद्या, जाति, कुल, पद आदि की अपनी विशेषताओं या अपने त्याग के कारण व्यक्ति दूसरों को अपने से हीन समझने लगता है, उसमें 'मैं' भाव पैदा हो जाता है। यह मान है। अन्दर से कुछ और हो और बाहर से कुछ और हो, यह कपट है, इन्द्रिय विषयों की लोलुपता व धन सम्पत्ति, पद व प्रतिष्ठा की तृष्णा होती है जो लोभ है। व्यक्ति दिन भर तरह-तरह के संकल्प-विकल्प व भाव करता रहता है वे भाव कर्म कहलाते हैं। तीव्र, मंद, मंदतर या मंदतम जैसी भी हमारी कषाय होती है उसी के अनुसार वे भी हमारे साथ बन्ध जाते हैं अर्थात् वैसे ही हमारे संस्कार पड़जाते हैं। जैसे भाव कर्म होते हैं उनके अनुसार ही पुद्गल कर्म भी आकर्षित होते और बंध जाते हैं जैसे लोह कण चुम्बक की ओर खिंच जाते हैं। उसी से आत्माएँ शरीर धारण करती और संसार परि-

भ्रमण करती रहती हैं। इस प्रकार पुद्गल कर्मों का बंध भाव कर्मों के अधीन है। यदि भाव कर्म नहीं बंधेंगे तो नये पुद्गल कर्म भी नहीं बंधेंगे चाहे शरीर की क्रिया होती रहे। भाव कर्मों का बंध भी कषाय की तीव्रता व मंदता पर ही आधारित होता है। पहले किये हुए कर्म प्रत्येक आत्मा के साथ बंधे होते हैं वे भी संस्कार या भाग्य के रूप में इस प्रक्रिया में अपनी भूमिका निभाते हैं।

ये कषायें व्यक्ति को अन्दर ही अन्दर कसती रहती हैं, वह उद्विग्न रहने लगता है और कल्पनाओं के जाल-जंजाल में फंसा रहता है। मानसिक तनाव व आकुलता के परिणाम स्वरूप अनेक मानसिक रोग पैदा होते हैं, व्यक्ति अशान्त रहता है। अनेक शारीरिक बीमारियाँ भी पैदा हो जाती और वृद्धावस्था जल्दी ही आजाती है। मानसिक तनाव व आकुलता का नाड़ी संस्थान पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है, फलतः अवयवों की गतिविधियों का सामान्य क्रम बिगड़ जाता है और उससे पेट की बीमारियां भी होजाती हैं। बढ़ते हुए हृदय रोगों में मानसिक तनाव ही मुख्य कारण है। इस प्रकार **कषाय का व उसके द्वारा होने वाले कर्म बंध का परलोक से ही नहीं, हमारे शारीरिक स्वास्थ्य व दैनिक जीवन के सुख-दुख से भी गहरा सम्बन्ध है। कषाय के कारण ही व्यक्ति हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील, अति-परिग्रह आदि में लिप्त होकर समाज में भी अशांति पैदा करता है। इस प्रकार कषाय सब बुराइयों की जड़ है।**

दुःखों से मुक्ति का उपाय–कषाय मुक्ति—जैसा कि ऊपर कहा गया है, कषाय भाव ही जीवों के सब दुःखों के कारण हैं। उनसे मुक्ति पाये बिना संसार के दुखों से छुटकारा किसी भी प्रकार नहीं पाया जासकता। हमारे दुःखों का कारण बाह्य निमित्त नहीं हैं प्रत्युत बाह्य निमित्तों के सम्बन्ध में हम जो इष्ट अनिष्ट की धारणा बनालेते हैं वह सुख दुख का कारण है जैसे, जिस रोटी को एक व्यक्ति घृणा पूर्वक फेंक देता है उसी को दूसरा व्यक्ति न्यामत समझ कर खाने लगता है। अतः इन्द्रियों के बाह्य सुख साधन व धन संपदा कितनी भी मिल जावे जब तक आत्मा कषाय ग्रस्त रहती है बाह्य संयोगों में

इष्ट अनिष्ट की भावना रहती है, तब तक जीवन मानसिक और शारीरिक दोनों ही दृष्टियों से अशांत और दुखी ही रहता है। अस्तु, दुःख को थोडी देर के लिए भुलाने को आत्म सम्मोहन के लिए कोई एल. एस डी. आदि लेता है, कोई शराब पीता है व कोई सिनेमा में जाकर मन बहलाता है, परन्तु दुःख तो दुःख के कारण को, कषाय भाव को, इन्द्रिय विषयों की तृष्णा को त्यागने पर ही मिटेगा।

इसीलिए जैनाचार्यों ने कहा है, "कषाय मुक्तिः किलमुक्तिरैव" अर्थात् कषाय भाव न रहे, समता भाव की प्राप्ति होजावे वही वास्तविक मुक्ति है। उसके बाद मन, वचन, काय की क्रिया चाहे होती रहे तो भी कर्म नहीं बंधेंगे। इसके लिए प्रत्येक आत्मा में इतनी सामर्थ्य व पुरुषार्थ भी है कि साधना द्वारा उसे जगाकर वह कषाय मुक्त हो सकती है कि संस्कार में पड़े हुए पुराने कर्म भी नष्ट होजावें (जिसे अविपाक निर्जरा कहते हैं) और नये कर्मों पर भी रोक लगकर और समता भाव की प्राप्ति होकर अतीन्द्रिय सुख शांति की प्राप्ति हो। परन्तु वह साधना कषाय मुक्ति के लिए ही होगी और करनी भी पड़ेगी हमें स्वयं ही। उसे चालू करने के लिए भी उपयुक्त समय युवावस्था ही है कि जब शक्तियां परिपूर्ण होती और शरीर स्वस्थ होता है। जो युवावस्था में साधना चालू नहीं करते उनके लिए बुढ़ापे में केवल कलपना रह जाता है, साधना नहीं होपाती। व्रत, तप, पूजा आदि तो कषाय त्याग के साधन मात्र हैं कि समता भाव प्रगट हो, सब परिस्थितियों में हमारा सम भाव रहे, सन्तुलन रहे। **यदि भावों में समता नहीं आई, आकुलता रहती है, तो व्रत, तप, पूजा पाठ आदि सब व्यर्थ हैं। कषाय मुक्ति की साधना उधार धर्म भी नहीं है, इसका फल तो तत्काल ही मिलना शुरू होजाता है,** अगले जन्म के लिए प्रतीक्षा करने की जरूरत नहीं। **कषाय जितनी जितनी घटती जावे और निराकुलता जीवन में आती जावे, उतना उतना मोक्ष आज भी है।**

आम तौर पर कहा जाता है कि कर्म बैरी हमें दुःख देरहे हैं तथा कर्म ही हमसे बुरे कार्य भी करवाते हैं। इस प्रकार हमारे सब दुःखों तथा हम पाप

भी करते हैं उनका उत्तरदायित्व द्रव्य कर्मों पर डाल कर हम अपने आपको असहाय मान लेते हैं। इसी प्रकार उन कर्मों के नाश के लिए भी शारीरिक कष्ट उठाने के रूप में उग्र तपस्या आवश्यक समझी जाती है कि जो विरलों ही के लिए संभव हो सकती है। मेरे विचार से यह सोचने का तरीका ही गलत है, हमें भाव कर्मों अर्थात् कषाय की दृष्टि से सोचना चाहिये क्योंकि द्रव्य कर्म तो भाव कर्मों के कारण बन्धते हैं। जैसाकि ऊपर कहा गया है, हम दिन भर तरह तरह के संकल्प करते रहते हैं वे हमारी कषाय के अनुसार हमारे संस्कार बन जाते हैं वही भाव कर्मो का बन्ध है। कषाय के उन संस्कारों को तोड़ने का उपाय भी उनकी हेयता का बार-बार चिन्तवन ही है ताकि बार-बार चिन्तवन से तीव्र से मन्द मन्दतर होकर क्रमशः कषाय की आदत टूटे, उसके संस्कार नष्ट हों, हम अनासक्त होजावें और उससे शास्त्रीय शब्दों में भाव कर्मों का नाश होकर हमारी मुक्ति हो जावे। इसके लिये सैद्धान्तिक दृष्टि से बाह्य परिग्रह भी छोड़ना नहीं पड़ता, वह तो बाह्य ममत्व न रहने से अपने आप छूट ही जाता है।

भेद विज्ञान पहली आवश्यकता—साधना चालू करने से पूर्व आवश्यक है कि व्यक्ति को "भेद-विज्ञान" होजावे, वह यह हृदयंगम कर ले, उसे प्रखर अनुभूति हो कि मेरी आत्मा हाड़ मांस के इस नश्वर शरीर, स्त्री, पुत्र, मित्रादि शरीर संयोगों तथा कषाय वासना से भिन्न एक अविनश्वर तत्व है और इसमें इतनी शक्ति है कि दुःखों के कारण, कषाय वासना को नष्ट कर अतीन्द्रिय आनन्द को अनुभव कर सके। बारह भावना का यही उद्देश्य है। आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में लिखा है, "भेद विज्ञान को तब तक निरंतर भाना जब तक पर से छूट कर ज्ञान-ज्ञान में स्थित हो" ताकि व्यक्ति अपनी आत्मा के प्रति सतत जागरूक रहे और उठते बैठते 24 घंटे इसका स्मरण रहे जैसे कोई गाली दे तो यह समझे कि गाली शरीर को दी है मुझे नहीं, भोजन करते समय यह बोध हो कि भोजन शरीर कर रहा है, मैं नहीं। उसकी संसार सम्बन्धों में इष्ट, अनिष्ट की भावना टूट जाती है। शिवभूति मुनि तो बिलकुल अनपढ़ थे परन्तु आपापर

के भेद-ज्ञान से ही उन्हें केवलज्ञान होगया। परन्तु हमारा तो दिन भर शरीर व शरीर के संयोगों से ही तादात्म्य रहता है, शरीर को ही "मैं" मानकर अपना सारा व्यवहार करते और उसके व अपनों के खातिर झूठे माप तोल रखना, मिलावट करना, टेक्स चोरी आदि अनैतिक कार्य तक करते रहते हैं। ऐसी स्थिति में "मैं शरीर नहीं हूँ" इसका ध्यान कैसे रहे? इसका उपाय है कि रात्रि में सोते समय शरीर को बिलकुल शिथिल कर दें और इस भावना को दोहराते हुए सो जावें कि "मैं नश्वर शरीर से भिन्न अविनाशी आत्मा हूँ, न शरीर संयोगी मेरे हैं, न कषाय मेरा स्वभाव है" तथा प्रातः भी नींद खुलते ही सर्व प्रथम यही स्मरण करें। यदि रात को इस स्मरण पूर्वक सोये हैं तो नींद शान्ति से आवेगी, प्रातः यह अपने आप पहला स्मरण बन जावेगा तथा दिन भर भी इस विचार का स्मरण रखना आसान हो जावेगा। रात में सोने का समय तथा प्रातः उठने का समय सबसे अधिक ग्राहक (receptive) समय होते हैं। अभी रूस वालों ने एक नई शिक्षा पद्धति चालू की है जिसे हिप्नोपीडिया कहते हैं। विद्यार्थी निश्चित समय पर सो जाते हैं, फिर उनके कान के पास लगा हुआ यंत्र उन्हें पढ़ाना शुरू कर देता है और वहां यह अनुभव में आया है कि जाग्रत अवस्था में जिस पढ़ाई में तीन साल लगते हैं वह रात में नींद की अवस्था में दी जाने पर तीन मास में ही पूरी होजाती है। इसी-लिए पुराने लोग रात में सोते समय परमात्मा का चिंतवन करते हुए सो जाया करते थे और प्रातः उठते ही पहले परमात्मा का चिंतवन करते थे।

ऊपर सोते समय शरीर को शिथिल करने को कहा है, वह साधना का महत्वपूर्ण अंग है। कायोत्सर्ग का भी यही उद्देश्य है। उसकी विधि यह है। प्रारंभ में नासिकाग्र पर दृष्टि रखते हुए धीरे-धीरे गहरा श्वास लें, श्वास लेते और निकालते समय यह अनुभव करें कि मेरा मन शांत और शरीर शिथिल हो रहा है। 5 से 10 मिनट तक इसी प्रकार श्वास लेते निकालते अनुभव करते रहें कि मेरा मन शांत और शरीर अधिकाधिक शिथिल होता जारहा है जैसे बिलकुल निर्जीव हो गया हो। उस समय श्वास भी लयबद्ध आने लगेगा। अधिक नहीं साधारण शैथल्य होजाने पर भी उस समय मक्खी मच्छर काटने की वेदना नहीं प्रतीत होगी, आधुनिक जीवन के सब प्रकार के तनाव

(tension) तथा रक्तचाप आदि रोग जाते रहेंगे और मानसिक शान्ति व प्रसन्नता का अनुभव होगा। कुछ दिनों के अभ्यास के बाद तो शरीर को शिथिल करने के लिए अधिक समय भी नहीं लगाना पड़ेगा, विचार करते ही कुछ क्षणों में शरीर शिथिल हो जावगा। यह अभ्यास और बढ़ाया जावे तो रात की निद्रा योगनिद्रा (योग की एक साधना विधि) में परिवर्तित की जा सकती है और उस क्रम में थोड़ी नींद ही पर्याप्त व शान्ति और स्फूर्तिदायक होने लगेगी।

प्रतिक्रमण—यह कषाय मुक्ति की साधना का मुख्य अंग है। इसका अर्थ है वापस लौटना। जिस मार्ग पर चलकर हम कषायों से बन्धे हैं वही मार्ग कषाय मुक्ति का भी है, केवल उल्टा चलना पड़ेगा। कषाय व इन्द्रिय विषयों की तथा धन, यश, पद व सत्ता की लोलुपतावश जिन विचारों से दिन भर घिरे रहे हों व जो अनुचित कार्य किये हों उन पर प्रतिदिन रात्रि में सोने से पूर्व एक-एक करके बारीकी से दृष्टि डालकर प्रायश्चित्त करें। मानों सबेरे से शाम तक की सब बातों को पूरी तरह टेप कर लिया गया हो और उन्हें टेप रेकार्डर से दुबारा सुन रहे हों, उसी प्रकार प्रातः से शाम तक जो जो हुआ, उस सबको पूरे विवरण सहित पुनः याद करे। **दूसरे शब्दों में प्रतिक्रमण भेद विज्ञान पूर्वक दृष्टि को पर से स्व में वापस लाने और कषाय से आत्मा का तादात्म्य तोडने की प्रक्रिया का नाम है।** यदि प्रतिक्रमण शुद्ध हृदय से (केवल परिपाटी के पालनार्थ ही नहीं) प्रतिदिन किया जावेगा तो उससे जीवन में बड़ा परिवर्तन आ जावेगा, कषाय व इन्द्रिय भोगों की तृष्णा में क्रमशः कमी आकर समता भाव में वृद्धि होती जावेगी, आनन्द का अनुभव होगा। परन्तु रूढ़ि के रूप में आलोचना पाठ, सामायिक आदि बोल लेने से ही कोई नतीजा नहीं निकलेगा। प्रतिक्रमण का इतना महत्व है कि भ० महावीर तो व्यक्ति को पिछले जन्मों की स्मृति तक में ले जाते थे। आत्म शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण की विधि तथा जाति स्मरण का प्रयोग जैन धर्म की मौलिक देन है। समयसार गाथा 386 में आचार्य कुन्द-कुन्द देव ने भी कहा है कि "जो सदा प्रत्याख्यान करता है, सदा प्रतिक्रमण करता है और सदा आलोचना करता है वह आत्मा वास्तव में चारित्र है।"

मन के स्वामी बनो--हमारा मन बड़ा चंचल है, नियंत्रण में नहीं रहता। भोजन करें, रेडियो सुनें या रास्ता चलें, इधर-उधर के विचार आते रहते हैं। ऑफिस में काम करें या कोई और काम करें परन्तु मन उसी काम में लगा नहीं रहता, इधर-उधर घूमता रहता है। इससे एक ओर तो काम में देर लगती है और गलतियाँ होती हैं, दूसरी ओर मस्तिष्क में तनाव पैदा हो जाता है, अनेक शारीरिक व मानसिक रोग पैदा हो जाते हैं। तनाव के कारण मन जल्दी ही थक जाता है। थके हुए मन को या तो सिनेमा आदि देखकर बहलाया जाता है या नशा करके (कि जो सम्मोहन में ले जाकर तनाव-ग्रस्त व थके हुए मस्तिष्क को विश्राम दे सके)। इस प्रकार मन पर नियंत्रण होने से हम हमारे दैनिक जीवन के कार्यों को भी कुशलता पूर्वक सम्पन्न नहीं कर पाते। अतः आवश्यक है कि हम अपने मन के स्वामी बनें कि वह हमारे नियंत्रण में रहे, हम अपनी इच्छानुसार उससे काम ले सकें और वह हमारी कषाय मुक्ति की साधना में भी साधक बने। इसके लिए केवल इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि जो भी काम हम करें वहीं हमारा मन भी रहे, उस काम में एकाग्र हो जावें। भोजन कर रहे हों तो भोजन में ही ध्यान रहे, इधर-उधर के विचार न आने पावें। इससे हमें भोजन से पूरा पोषण भी मिलेगा जो वर्तमान में पूरा नहीं मिलता। भोजन करते, टट्टी जाते व पेशाब करते समय मौन रखने की पुरानी परिपाटी है, उसका यही उद्देश्य है कि उस समय हमारे मन में कोई दूसरा विचार न आवे। ऑफिस में काम करते हों तो उस काम में ही तन्मय हो जावें। उससे काम की कुशलता बढ़ेगी, गलतियाँ नहीं होंगी।

प्रारम्भ में मन इधर-उधर दौड़े तो घबरावें नहीं। परन्तु मन में आने वाले इधर-उधर के विचारों के प्रति जागरूक रहें और उसी समय मन को उनसे हटाकर अपने कार्य में फिर लगा दें। कुछ दिनों के अभ्यास के बाद अप्रासंगिक विचारों का आना बन्द हो जावेगा। दिन भर भविष्य के तानेबाने बुनते रहते हैं जो बन्द हो जावेंगे। जिस काम में मन को लगावेंगे उसी में लगा रहेगा। इधर-उधर के विचार तो तभी आते हैं कि जब हम होश में नहीं

होते, जागरूक नहीं होते। **अप्रमाद की, विचारों के प्रति जागरूकता की, अनासक्ति की व द्दष्टापन की यह साधना दिन भर चले। परन्तु इसे अलग काम बनाकर इसके लिए अलग समय नहीं निकालना पड़ेगा।** यह तो साधक के दैनिक कार्यों में ही प्लावित होकर उसे इस योग्य बना देगी कि वह दिन भर के सांसारिक कार्यों को भी अधिकाधिक कुशलता पूर्वक कर सके। उसकी जो शक्ति विचार-प्रवाह के कारण नष्ट होती रही है वह भी संग्रहीत होने लगेगी। **भ० महावीर ने तो कहा ही है कि कभी प्रमाद मत करो, सर्वदा होश में रहो, जागरूक रहो।** मन एक ही समय में कर्ता और द्दष्टा दोनों नहीं हो सकता, अतः जब वह प्रमाद रहित होता है अर्थात द्दष्टा की भूमिका में आता है तो मनोविकार विलीन हो जाते हैं।

इस प्रकार यह एक प्राकृतिक प्रणाली है कि जिसके अनुसार विश्व की सब व्यवस्था चल रही है। इसमें किसी ईश्वर का कर्तृत्व नहीं है। सब जीव अपने ही पुरुषार्थ की गलत दिशा होने से दुःख उठाते रहते हैं परन्तु जो उसे जगाकर साधना द्वारा कषायों से मुक्त हो जाते हैं वे अविनश्वर अतींद्रिय सुख को प्राप्त कर ही लेते हैं। जबकि भेद विज्ञान के बिना तो सब क्रियाकाण्ड निरर्थक है। खेद है लोगों ने धर्म को परलोक व पुण्य-पाप की कल्पनाओं व पूजा उपासना के क्रियाकांड में ही सीमित कर लिया है तथा अधिक नहीं केवल अनन्तानुबन्धी (तीव्र) कषाय के त्याग और मानसिक सन्तुलन की उपरोक्त कला द्वारा वर्तमान जीवन को भी सुखी बनाया जा सकता है इस बात को बिलकुल उपेक्षित कर दिया है। **जो व्यक्ति जानता है कि अनन्तानुबन्धी कषाय क्या होती है, वह अपने अन्दर देखकर स्वयं निर्णय कर सकता है कि उसकी अनन्तानुबन्धी कषाय दूर हुई या नहीं। इसके बिना वह मिथ्याद्दष्टि ही है और वह धर्म के नाम पर जो भी आचरण करता है वह मात्र यांत्रिक चारित्र है, धर्म नहीं है।**

शुद्धात्मानुभव का भ्रम —बहुधा लोग भेद विज्ञान और प्रतिक्रमण द्वारा अशुभ विकार से आत्मा का तादात्म्य तोडे बिना ही शुद्धात्मा का ध्यान

करके आत्मानुभव के धोखे में पड़ जाते हैं और कषायें अन्दर छिपी रहती हैं। वे आत्म स्वरूप की इतनी ऊँची बातें करते हैं कि ऐसा लगता है कि उनके जैसा ज्ञानी कोई नहीं है। ऐसे लोगों को निश्चयाभासी बताते हुए आचार्य कल्प पं० टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग-प्रकाशक पृष्ठ ३०१ पर लिखा है "कि जैसे पाकादि औषधियाँ पुष्टिकारी हैं, परन्तु ज्वरवान उन्हें ग्रहण करे तो महा-दोष उत्पन्न हो, उसी प्रकार ऊँचा धर्म बहुत भला है, परन्तु अपने विकार भाव दूर न हों और ऊँचे धर्म को ग्रहण करे तो महान दोष उत्पन्न होगा। जैसे अपना अशुभ विकार भी नहीं छूटा हो और निर्विकल्प दशा को अंगीकार करे तो उल्टा विकार बढ़ेगा।" अत आन्तरिक शोधन व दोषों से बचने के लिए निषेधात्मक प्रक्रिया अपनाना आवश्यक होता है जैसा कि अहिंसा, अपरिग्रह आदि निषेधात्मक शब्दों के प्रयोग द्वारा किया गया है। अंतरंग तप के छ भेदों में प्रायश्चित्त को प्रथम स्थान दिया गया है उसका यही कारण है। **ज्यों-ज्यों कषाय तीव्र से मन्द आदि होती जावेगी त्यों-त्यों आत्मा के स्वाभाविक गुण तो उनका चिंतवन किये बिना ही अपने आप प्रगट होते चले जावेंगे। अतः आवश्यकता तो यह है कि आत्मा के स्वाभाविक गुणों के निरपेक्ष चिंतवन से, भेद विज्ञान पूर्वक दिन भर के कषाय भावों व भोगासक्ति जनित संकल्प-विकल्पों का प्रतिक्रमण करके उनकी हेयता पर चिंतवन को प्राथ-मिकता दी जावे ताकि कषाय भाव आत्मा को कसते रहते हैं उनसे मुक्ति हो जावे।**

आत्मानुभूति तो सम्यग्चारित्र की अवस्था है (जैसा कि छह-ढाला में पं० दौलतरामजी ने कहा है "आतमरूप में लीन रहे सो सम्यग्चारित्र सोई") सम्यग्दर्शन हुए बिना सम्यग्चारित्र नहीं हो सकता तथा भेद विज्ञान और उसकी प्रतीति पूर्वक मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी कषाय का नाश हुए बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। इसलिए जैसाकि एक प्रसिद्ध विद्वान् ने कहा है, यह कहना कि आत्मानुभूति होने पर कषायें स्वतः क्षीण हो जावेंगी, जैन सिद्धांत के विरुद्ध है। **आत्मानुभूति तो कषाय मुक्ति का फल है, साधन**

नहीं है। साधन है भेद विज्ञान पूर्वक प्रतिक्रमण। ध्यान भी साधना का अंग है। ज्यों ज्यों कषाय क्षय होगी, आत्मानुभूति तो अपने आप होती जावेगी। अध्यात्म के एक बहुत बड़े विद्वान् ने मुझसे कहा था कि "आत्मानुभूति तो ज्ञान का विषय है, चारित्र का नहीं, यदि आत्मानुभूति को चारित्र का विषय मानोगे तो यह मानना पड़ेगा कि मुनि जब आत्मानुभूति में नहीं होते तब उन्हें चारित्र नहीं होता"। इसका कारण यह है कि वे महानुभाव और कई अन्य विद्वान भी आत्म स्वरूप के चिंतवन में एकाग्रता अर्थात् ध्यान की स्थिति को ही आत्मानुभूति मानते हैं। यह उनका भ्रम है। आत्मानुभूति में सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र दोनों होते हैं। भेद विज्ञान के बाद **अनन्तानुबंधी कषाय नष्ट होने पर सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त कुछ मात्रा में सम्यग्चारित्र भी होता है कि जिसे स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं।** ज्यों ज्यों कषाय मंद, मंदतर आदि होती जाती है त्यों त्यों आत्मानुभूति के रूप में स्वरूपाचरण चारित्र की गहराई भी बढ़ती जाती है। **उसके लिए आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति उस समय ध्यान लगाकर बैठ जावे। ध्यान तो साधना का अंग है, चारित्र का नहीं।**

पुण्य सम्बन्धी भ्रम—सम्यग्दर्शन होने के बाद कषाय (राग द्वेष) मुक्ति की साधना में जब चिंतवन रहता है उस समय शुभोपयोग होता है और उससे पुण्य कर्मों का आस्रव होता है। जब चिंतवन भी न रहकर ध्याता ध्यान, ध्येय का भेद समाप्त हो जाता है तो वह शुद्धोपयोग बन जाता है। परन्तु **शुभोपयोग रूप चिंतवन होता कषाय मुक्ति के लिए ही है, सम्यग्दृष्टि पुण्य के परिणाम का निदान भी नहीं करता, इसीलिए उस पुण्य को परंपरा से मोक्ष का कारण कहा है।** इस प्रकार पुण्य बन्ध कषाय की मंदता से होता है, जहां संसार के भोगों की अति तृष्णा है वहां कषायों की मंदता हो नहीं सकती। अरहंतों की प्रतिमा के दर्शन, पूजा आदि में भी यदि राग, द्वेष मुक्ति के लिए चिंतवन है तो वे भाव ही शुभ और पुण्य स्वरूप होते हैं (कषाय मद होने पर दान दया के भाव तो होते ही हैं) अन्यथा पूजा, भक्ति आदि केवल अंधभक्ति ही है, जैन धर्म की दृष्टि से

उनका कोई महत्व नहीं है। धर्म के नाम पर धन खर्च करने मात्र से भी कभी पुण्य नहीं हो सकता। बहुधा लोग चाहते हैं कि चाहे वे तीव्र राग द्वेष, कपट व मायाचार करते रहें, अहंकार के पोषण के लिए धन, पद, प्रतिष्ठा की खूब भूख हो व इन्द्रिय विषयों की लोलुपता और धन सम्पत्ति की अति तृष्णावश काले धन की कमाई करते रहें, फिर भी आत्मानुभूति होकर या पूजा, भक्ति प्रतिष्ठा आदि द्वारा पुण्य बंध होकर उनके पाप नष्ट होजावें। धर्म के सम्बन्ध में केवल यह चिन्ता रहती है कि किस प्रकार उसकी दूसरे लोगों में प्रभावना करके अपने अहंकार को पोषण देवें। धर्म की कसोटी कषाय मुक्ति है उसकी साधना का कभी विचार नहीं करते। अपने टेक्स चोरी आदि अनैतिक कार्यों का अपने आपको मात्र ज्ञाता मानते रहते हैं, कर्ता नहीं, जबकि कर्म फल में आसक्ति वाला व्यक्ति कर्ता ही होता है और टेक्स चोरी व दहेज का ठहराव आदि अनैतिक व कानून विरुद्ध कार्य तो कर्ता हुए बिना कभी हो नहीं सकते। ऐसे व्यक्ति शुद्ध आत्मा के स्वरूप का चिंतवन कितना भी करें या पूजा प्रतिष्ठा आदि में कितना भी धन लगावें, वह सब निष्फल होगा, उन्हें पुण्य भी नहीं हो सकता क्योंकि कषायें उनके अन्दर छिपी बैठी हैं।

क्रमबद्ध पर्याय संबंधी भ्रम—जैसा कि पहले कहा गया है कषाय मुक्त होने पर ही आत्मा की मुक्ति (मोक्ष) हो सकती है और इसके लिए पर्याप्त पुरुषार्थ भी प्रत्येक आत्मा में है। जो महान आत्माएँ मुक्त हो जाती हैं वे परमात्मा कहलाती हैं। आत्मा का यह आध्यात्मिक विकास उसके स्वभावानुसार नियत क्रम से होता है जिसे गुणस्थान कहते हैं। इस प्रकार यह तो नियत है कि किस क्रम से आध्यात्मिक प्रगति होगी परन्तु यह नहीं कि किसी का कब कब क्या-क्या होना है। प्रत्येक आत्मा को अपने-अपने पुरुषार्थ के अनुसार ही समय लगता है। जैसे कोई व्यक्ति बंबई पैदल जाता है, कोई रेल से जाता है, कोई वायुयान से जाता है, उसी के अनुसार समय लगता है। यदि पहले से समय निश्चित होता कि किसी का कब क्या-क्या होना है तो आत्मा के पुरुषार्थ का कोई मूल्य नहीं रहता और न उपदेश

देने की आवश्यकता होती। आचार्य अकलंक देव ने भी तत्वार्थ राजवार्तिक के प्रथम अध्याय में लिखा है कि "कालानियमाच्च निर्जरायाः" अर्थात् कर्म निर्जरा का कोई समय नियत नहीं है। यह अवश्य है कि आत्मा पुरुषार्थ अपने में ही कर सकता है, पर में नहीं। अतः बाह्य संयोगों में कर्तृत्व का त्याग तो अपेक्षित है ही।

पूर्णतः कषाय मुक्ति या वीतराग अवस्था प्राप्त होने के बाद जब तक देह का भी संबंध बना रहता है उन्हें "अरहंत" या "जीवनमुक्त" कहते हैं। उस अवस्था में यद्यपि देह के निमित्त से मन, वचन, काय की क्रिया होती रहती है परन्तु कषाय के अभाव के कारण उन्हें कर्म नहीं बंधते, वे मात्र दृष्टा रह जाते हैं। जब देह का भी संबंध छूट जाता है तब उन्हें सिद्ध कहते हैं। ऐसा भी समय आता है कि जब धर्म का लोप होकर समाज में अशांति फैल जाती है। ऐसे समय में जो महान आत्माएँ अपनी अरहंत अवस्था में धर्म तीर्थ की पुनः स्थापना कर सब जीवों का मार्गदर्शन करती हैं वे "तीर्थंकर" कहलाती हैं। उनसे प्रेरणा लेकर अपने सोये हुये आत्मीय पुरुषार्थ को जगाने के लिए हम उनकी उपासना करते हैं। परन्तु वे तो राग रहित हैं, न तो हमें कुछ देती हैं, न हमसे कोई अपेक्षा करती हैं। हम स्वयं ही उनका आदर्श सामने रखकर और उनके अनुकरणीय गुणों का बार-बार स्मरण करके अपने पुरुषार्थ को जगाते हैं कि हम भी वैसे ही बनें, साधना द्वारा कषाय व कर्मों से मुक्त हो जावें। जैन तीर्थंकरों की उपासना का इतना ही महत्व है। वह धर्म का साधन मात्र है, धर्म नहीं है।

उपासना के लिए मूर्ति की आवश्यकता—अपनी देश भक्ति को प्रदर्शित करने के लिए भारतवासियों ने भारत माता की व राष्ट्रध्वज के प्रतीक की कल्पना की है, "जन-गण मन" व "बंदे मातरम्" गीत गाये जाते हैं, तब हम सावधानी पूर्वक खड़े होकर आदर प्रदर्शित करते है। इंग्लैंडवासी यूनियन जैक तथा अपने राष्ट्रीय गान के प्रति तथा और देशों वाले भी इसी प्रकार अपने-अपने देश के राष्ट्रध्वज व राष्ट्रगान के प्रति आदर प्रदर्शित करते हैं। मृत नेताओं के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने को उनकी समाधियों

पर फूल चढ़ाये जाते हैं। साम्यवादी देशों में भी यह परिपाटी है। इसी प्रकार जिन महान आत्माओं ने राष्ट्रीयता आदि के भी संकीर्ण घेरों से ऊंचा उठकर मानव मात्र के कल्याण के लिए उपदेश दिया है उनसे प्रेरणा लेकर हम भी अपने जीवन को ऊंचा बनाना चाहते हैं, उनकी मूर्ति बनाने की और उसके द्वारा उनके प्रति आदर प्रदर्शित करने की परिपाटी प्राचीन काल से चली आरही है। मूर्ति को देखकर उनके गुणों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होना है और उससे हमें प्रेरणा मिलती है। जिस प्रकार शाब्दिक वर्णन की अपेक्षा चलचित्र (सिनेमा) मनुष्य की भावनाओं को अधिक प्रभावित करते हैं उसी प्रकार महापुरुषों की मूर्तियों व चित्रों का उपयोग भी उनसे प्रेरणा प्राप्त करने के लिए अधिक प्रभावशाली होता है। उदाहरण के लिए—प्रोफेसर राममूर्ति कहा करते थे कि हनुमान और भीम के चित्र मेरे शरीर में बिजली की शक्ति पैदा करते हैं। जिन धर्मों के मानने वाले अपने महापुरुषों की मूर्तियाँ नहीं बनाते वे भी प्रतीक बनाकर उनका तथा धर्म ग्रंथ का आदर तो करते ही हैं जैसे मुसलमान बंधु काबे का, संगे असबद, मक्का की मसजिद व कुरान शरीफ का आदर करते हैं, संतों की समाधियों पर चादर चढ़ाते हैं, ताजिए बनाते हैं, ईसाई बंधु क्रॉस बनाते हैं, आर्य समाज वाले वेदों की तथा सिक्ख बंधु ग्रन्थ साहब की विनय करते हैं तथा अपने घरों में आदरणीय व्यक्तियों के चित्र रखते हैं। इस प्रकार जिन महान आत्माओं के प्रति आदर व भक्ति होती है उनकी मूर्ति, चित्र या उनकी स्मृति में प्रतीक बनाकर उसके द्वारा उनके प्रति आदर प्रदर्शित करने की मनुष्य की नैसर्गिक वृत्ति है। जैन तीर्थंकरों की मूर्तियां तो बनावट में ही निर्ग्रंथ, परम वीतरागता सूचक और शांत स्वरूप होती हैं और उनके दर्शन मात्र से अत्यन्त शांति मिलती है। अन्य लोगों ने भी समय समय पर ऐसे ही उद्गार प्रगट किये हैं। अस्तु, जैन धर्मावलम्बी, मूर्ति द्वारा तीर्थंकरों की उपासना करते हैं उसे बुतपरस्ती बताना भूल भरा है और जैन धर्म में निहित उपासना के उद्देश्य की ठीक जानकारी न होने के कारण है।

प्राचीन उपासना पद्धति—उदयगिरि व खंडगिरि की गुफाओं में प्राप्त खारवेल के शिलालेख से प्रमाणित होता है कि जैनियों में मूर्ति द्वारा

उपासना भगवान महावीर के काल से भी पहले से प्रचलित थी। मोहनजोदडो की खुदाई से प्राप्त मूर्तियां तो 5000 वर्ष प्राचीन बताई गई हैं। वे खडी मुद्रा में हैं और नग्न हैं। ईसा की पांचवी शताब्दी तक की तो नग्न मूर्तियां ही उपलब्ध होती हैं। इससे स्पष्ठ होता है कि जैनियों द्वारा प्राचीन समय में नग्न मुद्रावाली मूर्तियों के द्वारा ही उपासना की जाती थी। जब श्वेताम्बर सम्प्रदाय बना तो प्रारम्भ में तो वे भी उन्हीं नग्न मूर्तियों के द्वारा उपासना करते रहे और जब मूर्तियों पर आडम्बर किया जाने लगा तो पुरानी नग्न मूर्तियों के स्वामित्व के लिए तो झगड़े होने लगे तथा कोपीन वाली व खुले नेत्र वाली मूर्तियों का उनके द्वारा निर्माण चालू होगया। मध्यकाल से पहले तक उपासना पद्धति में भी आडम्बर का प्रवेश नहीं हुआ था, आत्मानुभूति व अणुव्रतों पर ही जोर था, लोग तीर्थंकरों की मूर्तियों के सामने स्तोत्र आदि का पाठ करते थे और उनके गुणों के चिंतव में तल्लीन हो जाते थे। परन्तु बाद में हिंदू धर्म के प्रभाव से जैन मंदिरों में भी भक्ति की धारा बहने लगी, मंदिर बनवाकर व मूर्तियां प्रतिष्ठित कराकर उनके सामने पूजा कीर्तन करना धर्म का मुख्य अंग बन गया। णमोकार मंत्र के संबंध में भी डा० कैलाशचन्द जैन उज्जैन ने (वीरवाणी दि० 3-10-84 में) खारवेल के शिलालेख, पहली सदी ई० पू० के पाले के अभिलेख, मथुरा के जैन स्तूप के आयाग पट्टों और मूर्तियों के कुछ लेखों तथा पण्णवणासुत्तम् के मंगलाचरण के पद तथा षटखण्डागम के मंगलाचरण के पद के आधार पर प्रतिपादित किया है कि णमोकार मंत्र में पहली व दूसरी सदी ईसवी तक केवल अर्हंतों और सिद्धों को ही नमस्कार किया जाता था। वर्तमान पंच णमोकार मंत्र तो सर्व प्रथम षटखण्डागम में आचार्य पुष्पदंत ने दिया है।

उपासना पद्धति में आई हुई विकृतियाँ

मांगने के लिये प्रार्थना करना धर्मानुकूल नहीं—जैन धर्मानुसार तीर्थंकरों की मूर्तियों से हम केवल प्रेरणा लेते हैं। वे (अर्हन्त) न हमें कुछ देते हैं, न दे सकते हैं और न हमसे भक्ति आदि की कोई अपेक्षा करते हैं। अतः जैन धर्मानुसार अरहन्तों के गुणों में प्रशस्त अनुराग का होना ही उनकी भक्ति है—"गुणानुरागः भक्तिः" और उनके गुणानुवाद की सीमा से बाहर उनके वैभव आदि का वर्णन करते हुए उनके प्रति भक्ति प्रदर्शित करना व उनसे **किसी भी प्रकार मागने को प्रार्थना करना, जैन धर्म के सिद्धांतों से विपरीत है,** भक्ति का अतिरेक है। हमारा णमोकार मंत्र भी भावना रूप में ही है, प्रार्थना रूप में नहीं। भेद विज्ञान और उसकी प्रतीति होने पर कि जो धर्म की सबसे पहली आवश्यकता है, आत्मा की अनन्त शक्ति का भान हो जाता है, फिर वह किसी से क्यों कुछ मांगेगा, अन्य धर्मों वाले जो संसार की कर्ता-हर्ता ईश्वर जैसी शक्ति में विश्वास करते हैं, वे उस शक्ति से प्रार्थना भी करते हैं परन्तु जैन धर्म के अनुसार तो ऐसी कोई शक्ति ही नहीं हैं जो कुछ दे सके। हमारी आत्मा में ही इतनी शक्ति है कि हम उसे जगाकर अपने ही श्रम से परमात्मा बन सकते हैं। **इसके लिए संकल्प पूर्वक उन्हीं की तरह कषाय मुक्ति के लिए भावना** (auto suggestions) **करने का ही महत्व है।** किसी दूसरी शक्ति से प्रार्थना करने का आशय है कि हमें अपनी शक्ति में विश्वास नहीं है, हममें हीनता की भावना है। ऐसी स्थिति में तीर्थंकरों की प्रार्थना से हमारे भीतर सुप्त शक्ति कभी नहीं जाग सकती। वह तो अपनी आत्म शक्ति में विश्वास रखकर उसे जगाने की बार-बार भावना करने पर ही जग सकती है। परन्तु भक्ति के नाम पर हमने तीर्थंकरों को अलौकिक बना दिया और उससे हममें हीनता की धारणा पैदा होगयी, हम अपनी आत्म शक्ति के प्रति श्रद्धाहीन होगये और कषाय त्याग का उद्देश्य उपेक्षित होकर भक्ति के प्रदर्शन में ही धर्म सीमित होगया।

ईश्वरवादी धर्मों का मार्ग भक्ति का है, समर्पण का है कि वे अपने को नगण्य मानकर सब कुछ ईश्वर के भरोसे छोड़ दें, परन्तु जैन धर्म का मार्ग ठीक इसके विपरीत है। वह पुरुषार्थ का मार्ग है, वह कहता है कि कोई हाथ नहीं जो तुम्हें ऊँचा उठा सके, तुम्हें अपने ही पुरुषार्थ के बल पर आगे बढ़ना पड़ेगा। जैसा करोगे वैसा फल भी भोगोगे, तुम्हारे पापों को कोई माफ नहीं कर सकता। उस मार्ग में ईश्वरवादियों की सी भक्ति और प्रार्थना का कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार जैन तीर्थंकरों ने तो ईश्वर कर्तृत्व के विरुद्ध क्रांति की थी परन्तु उनके अनुयायियों ने कर्तृत्व उन तीर्थंकरों में ही थोप दिया। **आचार्यों द्वारा मोक्ष के लिए प्रार्थना करने का समर्थन कर दिया जाने से यह विकृति पैदा होगई कि उनने यह सोचकर कि जब भगवान हमें मोक्ष दे सकते हैं तो हमारी सांसारिक कामनाएँ पूरी क्यों नहीं कर सकते, वे उनसे प्रार्थनायें करके तरह-तरह की मांगें करने लगे,** पाप की माफी माँगने लगे इस विचार के साथ कि ईमानदारी का जीवन न होने पर भी केवल भक्ति से ही उनके पाप माफ हो जायेंगे। अधिकांश हिन्दी के पूजा पाठ में यही लेने-देने का भाव भरा हुआ है। उदाहरण के लिए — पूजा के अन्त में प्रतिदिन प्रार्थना की जाती है "सुख देना दुःख मेटना, यही तुम्हारी बान, मोहि गरीब की बीनती सुन लीजो भगवान।" आलोचना पाठ में प्रार्थना की गई है "द्रोपदि को चीर बढ़ायो, सीता प्रति कमल रचायो, अंजन से किये अकामी, दुःख मेटो अन्तर्यामी।" इसी प्रकार द्यानतरायजी के पार्श्वनाथ स्तोत्र में प्रार्थना की गई है "दरिद्रीन को द्रव्य के दान दीने, अपुत्रीन को तू भले पुत्र कीने, महासंकटों से निकाले विधाता, सबै संपदा सर्व को देहि दाता।" एक प्रसिद्ध कवि वृन्दावनजी अपनी संकटहरन स्तुति में कहते हैं "हो दीन बन्धु श्रीपति करुणानिधानजी, अब मेरी व्यथा क्यों न हरो बार क्या लगी। मालिक हो दो जहान के जिनराज आप ही, एबो-हुनर हमारा कुछ तुमसे छुपा नहीं। बैजान में गुनाह मुझसे बन गया सही, कंकरी के चोर को कटार मारिये नहीं।" इसी प्रकार एक अन्य प्रार्थना है, "नाथ मोहि जैसे बने वैसे तारो, मोरी करनी कछु न विचारो।" करनी को सब कुछ मानने वाले जैन धर्म से इसकी क्या संगति है?

उपरोक्त से प्रगट होगा कि जैन तीर्थंकरों को उनके अनुयायियों ने कर्ताहर्ता ईश्वर का रूप दे दिया है। साधारण जैन यही समझता है कि हमारे भगवान सब कुछ देने वाले हैं। उसके दैनिक व्यवहार में यही भाव प्रगट होता है। बातचीत में बहुधा "श्री वीर प्रभु की कृपा से" आदि वाक्यों का प्रयोग किया जाता है। विद्वानों तक की यह हालत है कि मृत्यु के सम्वेदना प्रस्तावों में मृतक की सदगति व शान्ति के लिए जिनेन्द्र देव से प्रार्थना की जाती है। इस सम्बन्ध में मूर्धन्य विद्वान् सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने भी जैन सन्देश दि० 18 जनवरी, 1979 के सम्पादकीय लेख में लिखा है "जैन धर्म के भक्तिवाद में भी कर्तृत्व भरा हुआ है। जिनेन्द्र मुक्ति प्रदान करते हैं, संकट दूर करते हैं, वांछित फल देते हैं, प्राणियों के परम हित कर्ता हैं, इत्यादि भगवान के भक्ति स्तोत्रों में आता है और आम जैन जनता, जो जिन भक्त है उन्हें ही पढ़ती है। आज का समझदार भक्त भी मुक्ति कामना से भगवत् भक्ति नहीं करता है, लौकिक मनोवांछा की पूर्ति के लिए ही देवाराधना है।"

आवश्यकता है कि उपासना केवल गुणानुवाद रूप स्तवन व भावना-मयी हो जैसे बारह भावना तथा जिन पूजापाठ स्तोत्र आदि में अरहंतों पर कर्तृत्व आरोपित किया गया है या उनसे तरह-तरह की मांगें की गई हैं उनका प्रकाशन व उपयोग बन्द कर दिया जावे। यदि उपयोग करना हो तो उनका संशोधन कर दिया जावे। ईसाइयों ने भी समय की आवश्यकतानुसार बाइबल में संशोधन किये हैं। अभी उनने निर्णय लिया है कि बाइबल में ईश्वर का पुरुष के रूप में उल्लेख होने से स्त्री को द्वितीय स्थान प्राप्त है अतः भविष्य में ईश्वर के लिंग का उल्लेख नहीं होगा। परन्तु हमारे विद्वान तो जहाँ हमारे पूजा पाठ आदि में स्त्री को विष की बेल आदि कहा है उसे भी हटाने का विरोध कर रहे हैं। आशा है जैन धर्म को विश्व धर्म बनाने का नारा लगाने वाले बंधु इस पर विचार करेंगे। संशोधन करने की अवस्था में संशोधित रचना के साथ रचनाकार का कोई नाम नहीं दिया जावे और यदि दिया जावे तो नाम लिखकर साथ ही "परिवर्तित" या "संशोधित"

भी लिख दिया लावे। इसमें आपत्ति तो तब हो सकती है कि जब दूसरे की रचना को कोई अपनी बतावे। किन-किन प्रचलित स्तोत्र पाठ आदि में क्या-क्या संशोधन किये जावें इस सम्बन्ध में निर्णय लेने को विद्वानों की कमेटी बनाई जावे और प्रकाशक उन-उन स्तोत्र पाठ आदि का प्रकाशन उसी रूप में करें।

प्रचलित अष्ट द्रव्य पूजा जैन धर्म सम्मत नहीं

जैसाकि पहले कहा गया है अरहंतों की उपासना का उद्देश्य उनके गुणों के चिंतवन द्वारा अपनी आत्म शक्ति को जगाकर कषाय मुक्ति के लिए प्रेरणा लेना है। प्रतिमा दर्शन का भी यही उद्देश्य है। चिंतवन भी तभी हो सकता है कि जब हमें भेद विज्ञान हो, हम उनके गुणों को जानते हों और उन्हें अपना आदर्श मानकर बार-बार (रोज-रोज) चिंतवन द्वारा कषाय के संस्कारों को तोड़कर आत्मीय गुणोंको अभिव्यक्त करने की उत्कंठा हो। जैन संदेश दि० 11-9-80 में पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने भी लिखा है "जो जिसको पूजता है यदि वह उसके गुणों को नहीं जानता तो उसकी भक्ति यथार्थ नहीं है, न पूजा ही यथार्थ है", इसके बिना दर्शन व पूजन केवल अंधभक्ति है, उनका धार्मिक दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है। अस्तु **यही एक कसोटी है कि जिस पर कसकर अष्ट द्रव्य की सार्थकता की जांच की जासकती हैं कि क्या वह कषाय के संस्कारों को तोड़ने में सहायक होता है ?** अब इस दृष्टि से विचार करें तो पूजा में आठों द्रव्यों को चढ़ाते समय अलग २ आठ प्रकार की भावनाएँ की जाती हैं, जैसे जल चढ़ा कर यह भावना कि मेरा जन्म जरा मरण का रोग दूर हो, चंदन से यह भावना कि मेरे भव आताप की शांति हो, अक्षत से यह भावना कि मुझे अविनाशी पद की प्राप्ति हो। इसी प्रकार और भी भावनाएँ हैं।

इन भावनाओं की निरर्थकता पर मैंने पिछले संस्करणों में प्रकाश डाला था। ऐसा लगता है कि उसे अनुभव कर "जिन पूजा/जिनमंदिर"

पुस्तक में आठों द्रव्यों को चढ़ाने का सम्बन्ध अब निम्नानुसार आठ कर्मों की निर्जराके साथ जोड़ दिया गया है:—

1. जल—'ज्ञानावरणकर्म विनाशकाय जिनेन्द्राय अनत ज्ञान प्राप्तये जलं निर्वपामि।
2. चंदन—दर्शनावरण कर्मनिवारक जिनेन्द्राय अनंत दर्शनगुण प्राप्तये चंदनं निर्वपामि।
3. अक्षत—वेदनीयकर्म विध्वंसक जिनेन्द्राय अव्याबाध गुण लब्धये अक्षताम् निर्वपामि।
4. पुष्प—मोहनीय कर्म विनाशक जिनेन्द्राय सम्यक्त्व गुण प्राप्तये पुष्पं निर्वपामि।
5. नैवेद्य—आयुकर्म निवारक जिनेन्द्राय अवगाहनगुण प्राप्तये नैवेद्यं निर्वपामि
6. दीपं—नामकर्म निवारक जिनेन्द्राय सूक्ष्मत्वगुण लाभाय दीपं निर्वपामि।
7. धूपं—गोत्रकर्म प्रतिबंधक जिनेन्द्राय अगुरुलघुगुण लाभाय धूपं निर्वपामि
8. फल—अंतरायकर्म निवारक जिनेन्द्राय अनंतवीर्यगुण प्राप्तये फलं निर्वपामि।
9. अर्घ्यं—अष्टकर्म निबाशकाय जिनेन्द्राय अनंतज्ञानदर्शन उपलब्धये अर्घ्यं निर्वपामि।

उपरोक्त से यह भी प्रगट है कि जिनेन्द्र को जैन मान्यता के विरुद्ध हमारे आठों कर्मों का विनाशक/निवारक मानकर उनसे उन कर्मों के नाशक गुणों की प्राप्ति के लिए प्रार्थना भी की गई है। यहां यह विचारणीय है कि

(१) क्या ये आठ भावनाएं कषाय के संस्कार तोडने में सहायक होती हैं ? जैसा कि पृष्ठ 19 पर "शुद्धात्मानुभव का क्रम" शीर्षक के अन्तर्गत विवेचन किया गया है, प्रचलित भावनाओं के समान ही अनन्त ज्ञान

अनन्तदर्शन आदि गुणों की भावना भी कषाय मुक्ति का या उसके संस्कार तोड़ने का साधन नहीं है। हम पूजा में इन गुणों की प्राप्ति के लिए जिनेन्द्र से कितनी भी प्रार्थना करें केवल उसी से इन गुणों की प्राप्ति कभी नहीं हो सकेगी। अष्ट कर्मों के नाशक इन गुणों की प्राप्ति तो कषाय मुक्ति होने पर ही हो सकेगी और उसके लिए जैन सिद्धान्तानुसार उपरोक्त भावनाएँ/प्रार्थनाएं भी निरर्थक हैं। कषाय मुक्ति तो प्रायश्चित्त और प्रतिक्रमण से ही होगी और कषाय ज्यों ज्यों तीव्र से मन्द आदि होती जावेगी त्यों त्यों अष्ट कर्म बिनाशक उपरोक्त गुणों की प्राप्ति तो अपने आप होती चली जावेगी। वस्तुतः अष्ट द्रव्य पूजा के द्वारा तो अबोध लोगों को धोखा दिया जा रहा है कि प्रायश्चित्त और प्रतिक्रमण पूर्वक कषाय त्याग किये बिना ही, जिनेन्द्र भगवान उपरोक्त भावनाओं सहित अष्ट द्रव्य पूजा करने पर ही उन्हें अष्ट कर्म विनाशक गुणों की प्राप्ति करवा देंगे जब कि जिनेन्द्र तो मुक्त हो चुके हैं, न किसी को कुछ देते हैं, न लेते हैं। यह भी हास्यास्पद है कि जहाँ वास्तव में स्वाध्याय ही शास्त्र की पूजा और रत्नत्रय व दशलक्षण धर्मों का पालन ही उनकी पूजा है वहाँ उनकी भी अष्ट द्रव्य से पूजा की जाती है। आवश्यकता इस बात की है कि आठ द्रव्य चढ़ाने में लगने वाला समय स्वाध्याय तथा रत्नत्रय व दशलक्षण धर्मों के पठन/मनन में लगाया जावे।

(२) क्या अष्ट द्रव्य भावनाओं में साधक है, आलम्बन है?– वैसे तो जब ऊपर लिखे अनुसार, पूजा के समय की जानेवाली आठों भावनाएँ (पुरानी व नयी दोनों) ही कषाय के संस्कारों तो तोड़ने के लिए निरर्थक हैं तो उनके लिए द्रव्य का आलम्बन लेने का कोई प्रश्न ही नहीं पैदा हो सकता। फिर भी कहा जा सकता है कि कषाय मुक्ति के लिए प्रेरणा लेने को भगवान के गुणों की भावना में उपयोग को लगाने के लिए साधारण लोगों के लिए अष्ट द्रव्य का आलम्बन आवश्यक है। इस दृष्टि से विचार करें तो अष्ट द्रव्य के साथ उन भावनाओं की कोई संगति भी नहीं बैठती कि उन्हें आलम्बन कहा जा सके। उदाहरण के लिए, केवल जल चढाने से जन्म जरा रोग का नाश या अनन्त ज्ञान की प्राप्ति, चन्दन चढ़ाने

से भव आताप की शांति या अनन्त दर्शन गुण की प्राप्ति, चांवल चढ़ाने से अविनाशी पद या अव्याबाध गुण की प्राप्ति, पुष्प (पीले चांवल) चढ़ाने से काम विकार का नाश या सम्यक्त्व की प्राप्ति तथा नैवेद्य (खोपरे की गिरि) चढ़ाने मात्र से ही क्षुधा रोग का नाश या आयु कर्म निवारक अवगाहन गुण की प्राप्ति कैसे हो जावेगी जब कि कषाय नाश हुए बिना ऐसा होना असंभव है। क्या पूजक जल, चन्दन आदि चढ़ा कर ही (चाहे प्रतीक के रूप में ही सही) जिनेन्द्र से अपने त्याग की तुलना में ऐसी असंभव मांगे करके अपने आपको धोखा नहीं देते? पूजक प्रतीक के रूप में चढ़ाते, तो हैं चांवल, गिरि आदि द्रव्य, परन्तु बहुमूल्य भोग पदार्थों के चढ़ाने का नाम लेकर क्या जिनेन्द्र को धोखा नहीं देते? इसके समर्थन में कहा जाता है कि यह तो स्थापना निक्षेप है, धोखा देना नहीं है। मेरा प्रश्न है कि कांच को हीरा कहकर या किसी नकली वस्तु को असली बताकर बेचने वाला दुकानदार भी कोर्ट में जाकर कहे कि मैंने तो स्थापना निक्षेप से कांच को हीरा या नकली वस्तु को असली कहकर बेचा है, मैंने धोखा नहीं दिया है, तो आपके स्थापना निक्षेप की कोर्ट में क्या दुर्गति होगा? अस्तु, अष्ट द्रव्य की निस्सारता को अनुभव कर वर्त्तमान के कुछ कवियों ने अपनी नवीन पूजाओं में कवि कल्पनाओं द्वारा उसे आध्यात्मिक भावनाओं का वाहक बताने का प्रयत्न किया है परन्तु उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ तो कल्पित ही होती हैं, वास्तविक नहीं होतीं, उनके आधार पर भी अष्ट द्रव्य को आलम्बन नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में दूसरी प्रकार भी विचार करें तो यह बात सामने आती है कि जब अरहन्त भगवान की प्रतिमा हमारे सामने नहीं होती तब तो हम सब प्रकार का चिन्तवन मनन द्रव्य के कथित आलम्बन के बिना ही कर लेते हैं, उस समय एकाग्रता के लिए द्रव्य के आलम्बन की आवश्यकता अनुभव नहीं करते तथा जब भगवान की प्रतिमा का विशेष प्रेरणादायी आलम्बन सामने होता है तब पूजा में मन को लगाने के लिए हम द्रव्य के आलम्बन की आवश्यकता मानने लगते हैं। प्रातः काल दर्शन करने जाते हैं तब भी चाहे भगवान की प्रतिमा के सामने दो मिनट ही ठहरें, उस समय भी द्रव्य चढ़ाने की आवश्यकता समझी जाती है? जिन्हें विना द्रव्य के आलम्बन के ही एकाग्रता हो जाती है वे भी

अष्ट द्रव्य के बिना पूजा करना अनुचित समझते हैं ? इससे प्रगट है कि अष्ट द्रव्य वास्तव में हिन्दुओं के से पूज्य पूजक भाव से अपनाया गया है, एकाग्रता के आलम्बन के रूप में नहीं और क्योंकि वह भाव जैन धर्म विहित नहीं है अतः द्रव्य को आलम्बन कहा जाने लगा। यदि वह आलम्बन ही होता तो उसका उपयोग केवल अरहन्तों की प्रतिमा सामने पर ही क्यों होता ? अरहन्तों की प्रतिमा से तो और भी अधिक प्रेरणा व एकाग्रता प्राप्त होती है अतः प्रतिमा सामने होने पर तो अष्ट द्रव्य के आलम्बन की आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिए। जहाँ हमारे मूर्ति पूजा विरोधी जैन बन्धु मूर्ति के आलम्बन के बिना ही चिंतवन में एकाग्रता कर लेते हैं वहां हम मूर्ति पूजकों के लिए अरहन्त भगवान की प्रतिमा का आलम्बन भी पर्याप्त न हो —यह समझ में न आने वाली बात है। इस प्रकार, अष्ट द्रव्य आलम्बन है ही नहीं। जो बन्धु यह समझते हैं कि उन्हें अष्ट द्रव्य के कारण पूजा के भावों में एकाग्रता हो जाती है वे अष्ट द्रव्य के बिना भी पूजा करके देखें, उस स्थिति में भी एकाग्रता होगी तब उन्हें स्वयं ज्ञात हो जावेगा कि अष्ट द्रव्य आलम्बन नहीं है। **एकाग्रता का आलम्बन तो भावना होती है, अष्ट द्रव्य में ऐसी कोई खूबी नहीं है, उसके कारण तो भावना उपेक्षित हुई है कि व्यक्ति भावना न होते हुए भी द्रव्य चढ़ाकर ही समझ लेता है, मैं पूजा के फल का अधिकारी हो गया।** भावना भी जितनी गहरी होती है एकाग्रता उतनी ही अधिक होती है —यह मनोविज्ञान का नियम है परन्तु अष्ट द्रव्य द्वारा पूजा करने में तो मन को बार-बार भावना से हटाकर द्रव्य में ले जाना पड़ता है उस अवस्था में भावना गहरी होकर एकाग्रता कैसे हो सकती है। इसके अतिरिक्त जो लोग पूजा सुनते हैं उनके लिए भी अष्ट द्रव्य आलम्बन कैसे बन जाता है क्योंकि वे स्वयं तो अष्ट द्रव्य को चढ़ाते नहीं ? वे तो केवल (१) पूजा में जो कुछ बोला जाता है उसकी भावना में तथा (२) द्रव्य चढाने की भावना में मन को लगाते हैं। अतः दोनों अवस्थाओं में उनका आलम्बन भावना होती है, द्रव्य नहीं। अस्तु, यह कहना धोखा है कि अष्ट द्रव्य आलम्बन है। इस भ्रमपूर्ण मान्यता ने तो अरहन्त भगवान की

पूजा उपासना को धन साध्य बनाकर एक गरीब व्यक्ति के लिए उसे असंभव बना दिया है।

इस सम्बन्ध में यह भी युक्ति गलत है कि जिस प्रकार किसी गाने वाले का मन बाजे की सुरताल की सहायता से ज्यादा लगता है उसी प्रकार अष्ट द्रव्य के द्वारा भी पूजा में मन ज्यादा लगता है। बाजे की सुरताल (संगीत ध्वनि) का मनमोहक गुण तो लोक प्रसिद्ध है और उसमें ऐसी शक्ति है कि मनुष्य की शक्ल देखते ही दूर भाग जाने वाले मृग तथा सर्प आदि जन्तु भी उसकी मधुर ध्वनि से मोहित होकर अपने पकडने वाले की कोई परवाह न करके उसके सुनने में दत्तचित्त होकर जहाँ के तहाँ खडे रह जाते हैं और अपनी स्वतन्त्रता खो बैठते हैं। अतः अष्ट द्रव्य को बाजे की सुरताल के समान मानना हास्यास्पद है। उदाहरण के लिए, दो मनुष्यों में से एक तो गाना गा रहा है और दूसरा अपने इष्टदेव की पूजा बोल रहा है। दोनों के लिए एक एक बाजे का प्रबन्ध कर दीजिए। बाजे की ध्वनि से जिस प्रकार वह गाने वाला गाने में मस्त हो जावेगा उसी प्रकार पूजा करने वाला भी पूजा की भावनाओं में लीन हो जावेगा। फिर दोनों को बाजे के स्थान पर अष्ट द्रव्य दे दीजिए और उन्हें समझाइये कि इससे तुम्हारा मन ज्यादा लगेगा। फिर देखना कि वह गाने वाला आपकी इस बात का क्या उत्तर देता है। तात्पर्य यह है कि पूजा में एकाग्रता उसके संगीत के कारण होती है। अष्ट द्रव्य में एकाग्रता सम्पादन की कोई शक्ति नहीं है कि उसे आलम्बन कहा जा सके। इसके अतिरिक्त पूजा में चढ़ाये द्रव्य का तो निरर्थक उपयोग होता है अतः उसे दान भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि सार्थक दान तो दूसरे प्राणियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने पर ही होता है। यहाँ, इस पुस्तिका के सम्बन्ध में ब्रह्मचारिणी कुमारी कौशलजी द्वारा प्रदर्शित निम्न विचार भी मननीय है, "....जो दर्शक मूर्ति को देखता है वह वीतराग भावों को गौण कर देता है। जो भावों का अवलोकन करता है वह मूर्ति व पत्थर को देखता हुआ भी नहीं देखता वरन् उन अलौकिक भावों में निमग्न हो आनन्दित हो जाता है। यही सच्ची पूजा है। टंकित भावों का

भावों में ग्रहण ही देवदर्शन है। यह भावों का दर्शन मौनावस्था में ही संभव है, फिर इस पूजा में भक्ति पाठ व द्रव्यार्पण को कहाँ अवकाश ? चित्रपट्ट पर चित्रों को देखकर लोग मात्र प्रसन्न या खिन्न होते हैं अथवा उन चित्रों के क्रियाकलापों का अनुकरण करते हैं परन्तु उन चित्रों को भोज्य सामग्री नहीं चढ़ाते। इस प्रकार विविध प्रकार का द्रव्यार्पण सम्बन्धी आडम्बर वीतराग पूजा में उचित नहीं। वीतरागता में राग और विकल्प को स्थान कहाँ ?....."

इस प्रकार अष्ट द्रव्य तथा उसे चढ़ाते समय की जाने वाली भावनाएं (दोनों ही) कषाय के संस्कारों को तोड़ने के लिए उपासना का आलम्बन माना जाने की पूर्वोक्त कसौटी पर सही नहीं उतरतीं। यही कारण है कि अष्ट द्रव्य पूजा का गोरखधंधा करते हुए आयु बीत जाने पर भी हम आध्यात्मिक दृष्टि से वहीं बने रहते हैं, जरा भी प्रगति नहीं कर पाते।

प्राचीनकाल में केवल स्तवन वंदन था, अष्ट द्रव्य पूजा नहीं थी—

(1) जैसाकि अमितगति श्रावकाचार के परिच्छेद 8 श्लोक 29 में कहा है, "सामायिकं स्तवः प्राज्ञैर्वंदना सप्रतिक्रमा। प्रत्याख्यानं तनूत्सर्गः षोढ़ावश्यकमीरितम्", प्राचीनकाल में साधु और श्रावक के षडावश्यक ये थे—सामायिक, स्तवन, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग। अलग अलग नहीं थे। साधु और श्रावक दोनों अपनी अपनी शक्ति के अनुसार इनका पालन करते थे। इस प्रकार प्राचीनकाल में अरहंतों की उपासना स्तवन, वंदन के रूप में ही थी, अष्ट द्रव्य पूजा के रूप में नहीं थी, क्योंकि साधु और श्रावक के षडावश्यक एकही थे और साधु के पास अष्ट द्रव्य होने का प्रश्न ही नहीं था। इसके प्रतिपादन में ज्योतिषाचार्य स्व० डा० नेमीचंदजी जैन, आरा ने श्री भँवरीलाल बाकलीवाल स्मारिका के पृष्ठ 237 से 240 पर प्रकाशित अपने लेख में लिखा था, "सिद्ध है कि प्रारंभ में गुणस्मरण और स्तवन के रूप में भक्ति भावना प्रचलित थी"....."पूजन के अष्ट द्रव्यों की संख्या छठवीं शती के पश्चात् ही निर्धारित हुई मालूम पड़ती है।" "षडावश्यकों एवं मूर्ति निर्माण में विकृतियाँ"

पुस्तिका में पं० भँवरलालजी पोल्याका जैनदर्शनाचार्य साहित्यशास्त्री ने भी प्रमाणित किया है कि देवपूजा को श्रावकों के लिए षडावश्यकों में स्थान सर्व प्रथम, भ० महावीर के 1500 वर्ष बाद हुए आचार्य पद्मनंदि और सोमदेव ने दिया था। मूर्धन्य विद्वान सिद्धांताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने भी जैन संदेश दि० 7-2-85 के अपने संपादकीय लेख में लिखा है "जैन धर्म मूल से क्रियाकांडी धर्म नहीं है। प्राचीन शास्त्रों में पूजा विधि का उल्लेख नहीं मिलता। आचार्य विद्यानंदि कृत पात्र केसरी स्तोत्र में कहा है—'भगवन चैत्य-दान-पूजन आदि क्रियाओं का आपने उपदेश नहीं दिया। यह तो आपके भक्त श्रावकों ने स्वयं उनका अनुष्ठान किया है। प्राचीन काल में मुनियों और श्रावकों के षट् कर्मों में भेद नहीं था। यह तो उत्तर काल में हुआ है। आचार्य अमितगति ने अपने श्रावकाचार में कहा है 'शरीर और वचन को लगाना द्रव्य पूजा है और मन को लगाना भाव पूजा है।' इस तरह मन वचन काय के संकोच को ही भावपूजा और द्रव्यपूजा कहा जाता था।.....आज की प्रचलित द्रव्यपूजा उत्तरकाल की उपज है।" उपरोक्त से सिद्ध है कि प्रचलित अष्टद्रव्य पूजा प्राचीन नहीं है।

(2) इन्दौर से प्रकाशित "जिनपूजा/जिन मंदिर" तथा "जैनदर्शन में उपासना एवं स्याद्वाद" पुस्तकों में प्रचलित अष्ट द्रव्य पूजा के प्राचीन होने के समर्थन में—

(क) नंदीश्वर भक्ति व चैत्य भक्ति की आंचलिकाओं के साथ लगे प्राकृत गद्य के उद्धरण दिये हैं परन्तु उनसे तो अष्ट द्रव्य पूजा की प्राचीनता सिद्ध होने के बजाय केवल यह सिद्ध होता है कि अरहंतों की उपासना में उसकाल में केवल सुगंधित पदार्थों का उपयोग किया जाता था। इस संबंध में प्रसिद्ध विद्वान पं० रतनलालजी कटारिया केकड़ी ने लिखा है, "पूजा में अक्षत, नैवेद्य, दीप, फल ये द्रव्य पूर्व में नहीं थे। पूर्व में जो चैत्य भक्ति की अंचलिका में दिव्वेण गंधेण, दिव्वेण पुपफेण, दिव्वेण धूवेण, दिव्वेण चुण्णेण, दिव्वेण वासेण....."रूप में जो एक मात्र

सुगंधित द्रव्य दिये हैं वे ही थे। प्राचीन समय में सभी संप्रदायों में अपने आराध्य को केवल सुगंधित पदार्थ ही अर्पण करने का नियम था। ये पदार्थ सर्व साधारण के लिए सुलभ और सस्ते थे। इससे मंदिर का वातावरण पवित्र और सुरभित होजाता था, ध्यान पूजा में मन एकाग्र होता था। ईसाइयों मुसलमानों में आज भी इन सुगंधित पदार्थों का ही एक मात्र पूजा में प्रचलन है। जबसे खाद्य पदार्थों का नित्य पूजा विधि में समावेश हुआ तभी से विसंगतियाँ, आडंबर, आपत्तियाँ, हिंसा-जन्यता आदि अनेक दोष उत्पन्न होगये हैं।"

(ख) रत्नकरंड श्रावकाचार में, भगवान की पूजा की भावना से कमल पत्र लेजानेवाले मेंढक का उदाहरण दिया है, उसे उद्धृत किया है। इससे भी अष्ट द्रव्य पूजा की प्राचीनता सिद्ध नहीं होती, अधिक से अधिक उपरोक्त अनुसार केवल सुगंधित पदार्थ अर्पित करना सिद्ध होता है। रत्नरंड श्रावकाचार में कहीं भी अष्ट द्रव्य पूजा का वर्णन नहीं है। यदि अष्टद्रव्य पूजा उस समय प्रचलित होती तो यह असंभव था कि स्वामी समंतभद्र श्रावकाचार से संबंधित अपने ग्रंथ में उसका विधान नहीं करते।

(ग) जैनेन्द्र-यज्ञविधि के श्लोक "द्रव्यस्य शुद्धिमधिगम्य यथानुरूपं ...." का उद्धरण दिया है। परन्तु उससे भी प्रचलित अष्टद्रव्य पूजा की प्राचीनता सिद्ध होने के बजाय केवल "द्रव्य की शुद्धि" के अभिप्राय पर प्रकाश पडता है। अमितगति श्रावकाचार परिच्छेद 12 श्लोक 12 "वचो विग्रह संकोचो द्रव्य पूजा निगद्यते, तत्र मानस संकोचो भावपूजा पुरातनैः" में कहा है कि प्राचीन आचार्यों ने वचन और शरीर को एकाग्र करने को द्रव्य पूजा और मन को एकाग्र करने को भाव पूजा कहा है। यहां प्रयुक्त "पुरातनैः" शब्द से साफ प्रगट है कि प्राचीन आचार्य तो वचन और शरीर को एकाग्र करने को ही द्रव्य पूजा मानते थे। अतः उस काल की मान्यता के अनुसार "द्रव्यस्य शुद्धि" का अर्थ वचन और काय की शुद्धि ही करना उचित है। जब उस काल में अष्टद्रव्य पूजा प्रचलित ही नहीं हुई भी तो "द्रव्य" शब्द से अष्टद्रव्य का आशय निकालना गलत है।

उपरोक्त शास्त्रीय प्रमाणों व विद्वानों के उद्धरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में अरहंतों के गुण-स्मरण व स्तवन के रूप में ही भक्ति भावना प्रचलित थी (अतः उस समय के स्तोत्र पाठ आदि ही उपलब्ध हैं, अष्ट द्रव्य पूजाएँ नहीं)। प्राचीन आचार्य वचन और शरीर को एकाग्र करने को ही द्रव्य पूजा मानते थे। प्रारम्भ में वातावरण को शुद्ध व सुरभित करके ध्यान व चिंतवन में मन को लगाने के लिए प्रयुक्त सुगंधित पदार्थों से चालू होकर क्रमशः द्रव्यों की संख्या बढ़ती गई। होम हवन भी होने लगे, यद्यपि उनमें साक्षात् जीव हिंसा होती है और उनका जैन धर्मानुसार कोई औचित्य नहीं है। पद्मपुराण व हरिवंशपुराण में चार द्रव्यों का ही वर्णन मिलता है और उसका वर्तमान रूप सर्व प्रथम सोमदेव उपासकाचार में मिलता है कि जो ग्यारहवीं शताब्दी में अर्थात् भ० महावीर के लगभग 1600 वर्ष बाद हुए। श्वेताम्बर मूर्ति पूजक बंधुओं में भी अष्ट प्रकारी आदि पूजाएँ होती हैं। उनकी भी यही स्थिति है। महा विद्वान पं० बेचरदासजी दोसी ने "जैन साहित्य में विकार" के पृष्ठ 174 पर लिखा है "मैं यह बात हिम्मत पूर्वक कह सकता हूँ कि मैंने मुनियों या श्रावकों के लिए देव दर्शन या देव पूजन का विधान किसी भी अंग सूत्र में नहीं देखा।" अस्तु, यह कहना कि प्रचलित अष्ट द्रव्य या अष्ट प्रकारी आदि पूजायें प्राचीन हैं, वस्तु स्थिति के विपरीत है। एक विद्वान बन्धु ने अष्ट द्रव्य पूजा के समर्थन में 23 श्रावकाचार बताये वे सब बाद के या कुन्दकुन्दाचार्य आदि के नाम पर लिखे जाली ग्रन्थ हैं।

अष्ट द्रव्य पूजा अनेक विकृतियों की जड—तीर्थंकर तो मुक्त होगये, हमारे सामने नहीं हैं अतः हम उनकी प्रतिमाओं का निर्माण केवल उनके गुणों की स्मृति दिलाने के लिए करते हैं। उदाहरण के लिए, हमने अपने कमरे में अपने स्वर्गीय पिताजी का चित्र लगा रक्खा है। उसे देखकर हमारे हृदय में उनके प्रति आदर व विनय पैदा होगा और इनके आदर्शों व उपदेशों को जीवन में उतारने की भावना भी पैदा होगी। परन्तु यदि उस चित्र को ही साक्षात् पिता मानकर पितृ-भक्ति के नाम पर पिता के योग्य

परिचर्या उस चित्र की भी करने लगजावें तो हमें मूर्ख ही माना जावेगा। इसी प्रकार, तीर्थंकर प्रतिमाएँ भी उनके गुणों का स्मरण दिलाने की साधन मात्र हैं। उन प्रतिमाओं को ही साक्षात् तीर्थंकर मानकर उनकी भक्ति के नाम पर, उन प्रतिमाओं के गर्भ, जन्म आदि पांच कल्याणक व पूजा, अभिषेक करना निरा अज्ञान ही है। अतः अष्ट द्रव्य पूजा के परिणाम स्वरूप उनके प्रति हममें ईश्वरवादियों का सा पूज्य पूजक भाव पैदा हो गया, अनेक विकृतियाँ पैदा होगईं व नई नई पैदा होती जा रही हैं। हममें से अनेक उन्हें अलंकारों से सजाते हैं व छत्र, चँवर आदि उपकरण चढ़ाते हैं, उनका पंचामृत अभिषेक करते हैं, आवाहन विसर्जन करते हैं, प्रतिमा के सामने ज्योति जलाते हैं, आरती करते हैं, सिद्ध चक्र आदि मंडल मंडवाते हैं, प्रक्षाल के नातने की लीरी गले में बांधते व उसके जल को ललाट व गले में लगाते प्रत्युत आजकल तो आचमन की तरह उसे पीने लग गये हैं, मिठाई आदि भी चढ़ाने लगे हैं और उसे प्रसाद के रूप में प्रभावना के नाम से बांटा जाता है। यही नहीं, उन्हें कर्ता हर्ता ईश्वर की तरह मानकर अपने कार्यों की सिद्धि के लिए बोलारियाँ भी बोलते हैं। चाहे पूजा करने की भावना वाला कोई न हो, और न पूजा को सुनने वाले हों फिर भी भगवान की पूजा आवश्यक समझ कर किसी नोकर या फालतू व्यक्ति द्वारा पूजा कराई जाती है मानों भगवान को पूजा सुनने की गरज हो। व्यक्तिगत भावना न होते हुए भी मन्दिर की पंचायत के लोगों द्वारा बारी बारी से पूजा कराने का भी यही उद्देश्य है कि भगवान बिना सेवा पूजा न रहजावें। इस प्रकार **अष्ट द्रव्य पूजा के कारण पैदा हुआ ईश्वरवादियों का सा पूज्य पूजक भाव अनेक विकृतियों की जड है।** जब तक इस जड़ को नष्ट नहीं करेंगे, विकृतियाँ मिटना तो दूर वे बढ़ती ही जावेंगी।

प्रकांड विद्वान स्व० पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ ने वीरवाणी के अपने सम्पादकीय लेख में लिखा था "वर्तमान में हमारे मन्दिरों में जो द्रव्य पूजा की परम्परा चालू है वह वीतरागता से तो दूर है ही, किन्तु निरवद्यता से भी काफी दूर चली गई है। उसमें जो विपुल परिमाण में सावद्यता घुली हुई

है वह जैन धर्म के मौलिक रूप के साथ कोई मेल नहीं खाती।" विद्यावारिधि डा० ज्योतिप्रसादजी जैन ने जैन संदेश के शोधांक दि० 23-2-78 में भक्तिवाद की उत्पत्ति मध्यकाल में रामानुजाचार्य आदि के प्रभाव से मानते हुए लिखा था, "इस प्रकार जैन मन्दिरों में भी भक्ति उपासना के ढोल और मंजीरे खटकने लगे। कीर्तन और कर्तल ध्वनि होने लगी और भक्ति साहित्य रचा जाने लगा। जैनाचार के क्षेत्र में इस भक्ति उपासना के प्रवेश ने आचार की मूल आत्मा का हनन अवश्य किया। अब जैन धर्म में पंचव्रतों का पालना उतना मुख्य नहीं रहा, जितना कि मन्दिर और चैत्य बनवाना, मूर्तियां प्रतिष्ठित करवाना और फिर उन मूर्तियों के सामने पूजा कीर्तन करते हुये मदमस्त हो जाना मुख्य हो गया।..........एक बड़ा भारी नुकसान यह हुआ कि जैन धर्म की आधार सम्बन्धी जो प्रमुख विशेषता थी वह गौण हो गई और जैन साधु अधिकांशत कुछ आड़म्बरों और चोंचलों के शिकार होकर समाज की मुख्य धारा से कट गये।"

विकृतियाँ कैसे आई— भगवान महावीर के बाद बहुत समय धार्मिक असहिष्णुता का रहा था। जब ईश्वर कर्तृत्ववादी धर्म का प्रभाव बहुत बढ़ गया उस समय बौद्ध धर्म तो भारत में अस्तित्वहीन ही होगया। जैनियों पर भी बहुत अत्याचार हुए और जैसा कि अजैन इतिहासकारों ने भी लिखा है, जीतेजी घाणी में पिलवा दिये गये और हजारों जैन मन्दिर और मूर्तियाँ नष्ट कर दी गई। ऐसे संकट के समय में जैन धर्मावलम्बियों को धर्म बाह्य होने से बचाने के लिये जैनाचार्यों को ईश्वर कर्तृत्ववादी धर्म की पूजा, आवाहन, विसर्जन आदि बहुत सी बातों का जैनीकरण करना पड़ा, तथा अन्य अनेक उनके कारण बढ़ती जा रही हैं। हवन व यज्ञोपवीत के सम्बन्ध में तो मूर्धन्य विद्वान ब्र० पंडित जगन्मोहनलालजी शास्त्री ने भी लिखा है कि जैनी शूद्र करार दिये जाने के भय से धर्म बाह्य हुए जा रहे थे उनके स्थितिकरण के लिए ही आचार्य जिनसेन को आदि पुराण में हवन और यज्ञोपवीत की वैदिक क्रियाओं का जैनीकरण करना पड़ा था। हवन की परिपाटी वैदिकों से ही ली गई है— इस बात का समर्थन अन्य कई प्रमुख विद्वानों ने भी किया है। विकृतियों के

परिणाम स्वरूप स्थिति यह होगई है कि **सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री के शब्दों में "आज तो ईश्वर भक्ति और जिन भक्ति में कोई अन्तर नहीं रहा। वीतरागी जिन भी सृष्टि कर्ता-हर्ता ईश्वर के प्रतिरूप बन बैठे हैं।"**

जैसाकि ऊपर कहा गया है, जैन उपासना का उद्देश्य कषाय मुक्ति के लिए प्रेरणा लेना है, उसके लिए अष्ट द्रव्य पूजा की कोई सार्थकता नहीं है। उसके कारण तो भावना उपेक्षित हुई है और ईश्वर कर्तृत्ववादियों का सा पूज्य पूजक भाव आजाने से जैन उपासना विधि में अनेक विकृतियाँ पैदा होकर क्रियाकांड व आडम्बर का ही बोलबाला होगया हैं। किसी समय जैन आचार्यों को परिस्थितियों की मजबूरी से शास्त्रों में द्रव्य पूजा आवाहन विसर्जन आदि क्रियाओं का जैनीकरण करना पड़ा था। परन्तु वे जैन धर्म सम्मत नहीं होने से इस वैज्ञानिक, बुद्धिवादी और धार्मिक स्वतंत्रता के इस परिवर्तित समय में त्यागने योग्य हैं। भगवान महावीर ने ईश्वर कर्तृत्व के विरुद्ध-क्रांति की थी परन्तु **अष्ट द्रव्य पूजा आदि तो तीर्थंकरों में कर्तृत्व को ही पुष्ट करती हैं अतः वे तो उपासना पद्धति का विकार हैं,** उन्हें उपासना पद्धति का विकास या व्यवहार धर्म नहीं कहा जा सकता। किसी व्यक्ति को बम्बई को जाना हो और वह कलकत्ता का मार्ग पकड लेतो वह बम्बई कभी नहीं पहुँच सकेगा। मैं न तो क्रियाकांड का विरोधी हूँ और न मेरा यह कहना है कि समय समय पर जो परिवर्तन हुए हैं वे सभी बुरे हैं। मेरा तो मात्र इतना ही कथन है कि जो **भक्ति प्रदर्शन, आचार व क्रियाकाण्ड हमारे पुरुषार्थ को जगाने के बजाय तीर्थंकरों के प्रति कर्तृत्व भावना को ही पुष्ट करते हैं कि हम कर्तव्य कर्म करने के बजाय भक्ति मात्र से पापों से निवृत्ति मान लेते हैं वह तो बम्बई जाने के इच्छुक व्यक्ति द्वारा कलकत्ता का मार्ग पकड़ लेना ही है।** एक बहुत बड़े विद्वान ने इन विकृतियों वाले क्रियाकांड व आडंबर को पूर्वजों से प्राप्त भव्य प्रासाद बताया है सो इसे बचाने का कोई कितना भी प्रयत्न करे प्रकृति के नियमानुसार भी यह तो जावेगा ही। काश ! हमारे पूज्य साधु व माननीय विद्वान्

इस जीर्ण महल के मोह को त्याग कर अष्ट द्रव्य पूजा आदि विकृतियों के स्थान पर उनका विकल्प इस पुस्तक के उपसंहार में दिये सुझावानुसार चालू करने के लिये समाज का मार्गदर्शन करें।

आवाहन, विसर्जन भी व्यर्थ की क्रियायें हैं हिन्दू धर्म वाले इस बात को मानते है कि देवता बुलाने से आते, बैठते और चढ़ा हुआ द्रव्य ग्रहण करके वापस चले जाते हैं और उनके यहां वेदों तक में ऐसी पूजायें पाई जाती हैं। परन्तु जैन तीर्थंकर तो मुक्त हो चुके हैं, वे न तो हमारे द्वारा बुलाए जाने पर आ सकते हैं और न जा सकते हैं, अतः उनका आवाहन, विसर्जन करने व उनके आगे द्रव्य चढ़ाने का कोई औचित्य नहीं है। बारहवीं शताब्दी से पूर्व आवाहन व बिसर्जन का उल्लेख किसी जैन शास्त्र में नहीं मिलता। परन्तु हिन्दू देवी-देवताओं की तरह हमने उन्हें भी पूजा के लिये बुलाना, बिठाना, उनसे याचना करना और विदा करना शुरू कर दिया और हिन्दू धर्म की पंचायतन पूजा की नकल पर हमारे यहां भी विसर्जन पाठ का निर्माण कर लिया। पंचायतन पूजा का सम्बन्धित अंश निम्नानुसार है—"आवाहनं न जानामि, न जानामि तवार्चनम्। पूजां चैव न जानामि, क्षमस्व परमेश्वर॥ मंत्र—हीनं क्रिया—हीनं, भक्ति—हीनं सुरेश्वर। यत्पूजितं मया देव, परिपूर्णं तदस्तु मे। यदक्षर—पदभ्रष्टं, मात्रा हीनं च यद्भवेत्। तत्सर्वं क्षम्यताम् देव, क्षमस्व परमेश्वर॥"

इसकी तुलना में हमारे यहां शांति पाठ के अन्त में दिया हुआ विसर्जन का अंश निम्नानुसार है—"आवाहनं न जानामि, नैव जानामि पूजनम्। विसर्जनं न जानामि, क्षमस्व परमेश्वर॥ मंत्रहीनं क्रियाहीनं, द्रव्यहीनं तथैव च। तत्सर्वं क्षम्यतां देव, रक्ष—रक्ष जिनेश्वर॥"

उपरोक्त दोनों का मीलान करने पर स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि पूजा के समय तीर्थंकरों को बुलाने, बिठाने व विसर्जन करने की परिपाटी जैनियों ने हिंदू धर्म से ही ली है।

इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध विद्वान पं० रतनलालजी कटारिया, केकड़ी ने भी भा० दि० जैन विद्वत् परिषद द्वारा पुरस्कृत अपनी पुस्तक "शासन देव पूजा रहस्य" के पृष्ठ २५–२६ पर निम्नानुसार लिखा है—"आजकल जो नित्य-पूजादि में देव शास्त्र गुरु—दशलक्षण-पंचमेरु-निर्वाण क्षेत्रादि का आह्वाहन-विसर्जन द्वरणे में किया जाता है यह प्रणाली समुचित प्रतीत नहीं होती–यह आधुनिक, असंगत और सिद्धान्त विरुद्ध पद्धति है, क्योंकि अरहन्त सिद्धादि मुक्त जीव किसी के बुलाने से आते नहीं हैं और न किसी के भेजने से जाते हैं। इसके सिवा जब एक ही समय में अनेक पूजक उनका आह्वाहन करेंगे तो वे किसके पास जावेंगे और किसके पास नहीं जावेंगे? कारण कि मुक्तात्मा तो संसार में कभी लौट कर नहीं आते हैं। यह तो रही मुक्तात्माओं की बात, किन्तु जो अचेतन स्थिर हैं ऐसे पंचमेरु और निर्वाण क्षेत्रादि व किसी के लिए कैसे गमनागमन करेंगे? तथा रत्नत्रय और दश लक्षण जैसे उत्कृष्ट गुणों का कैसे कोई विसर्जन करेगा? आदि अनेक विप्रतिपत्तियाँ और असंगतियां हैं। ये सब ऊलजलूल व्यर्थ की क्रियाएँ हैं जो वैज्ञानिक–सुसंस्कृत युक्तिवादी जैन धर्म की प्रतिष्ठा के विरुद्ध हैं। इन्हें चाहे भक्ति का अतिरेक कहें किन्तु हैं ये सब बिडम्बना मात्र। प्राचीन ग्रन्थों में कहीं इनका उल्लेख नहीं है।"

श्री कटारियाजी के **उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आवाहन विसर्जन की परिपाटी का जैन धर्म से कोई मेल नहीं है। वह धर्म विरुद्ध है** और उचित है कि मूर्ति पूजक जैन बन्धु इसे अविलम्ब बन्द कर दें।

मूर्तियों पर व मन्दिरों में आडम्बर, प्रदर्शन—जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, श्वेताम्बर संप्रदाय बन जाने के बाद भी जब तक तीर्थंकरों की प्रतिमाओं पर आडम्बर करना चालू नहीं हुआ तब तक श्वेताम्बर तथा दिगम्बर सम्प्रदाय वाले (दोनों) उन्हीं नग्न मूर्तियों द्वारा उपासना करते रहे, आपस में कोई झगड़ा नहीं था। परन्तु मध्यकाल में रामानुजाचार्य आदि के भक्ति मार्ग के प्रभाव से जैनियों ने देवों द्वारा रचित 14 अतिशयों

से युक्त समवसरण की कल्पना करके तीर्थंकरों की प्रतिमाओं को कीमती छत्र, चंवर, सिंहासन आदि से सजाना व अन्य आडम्बर चालूकर दिया। वस्तुतः तो यदि भ० महावीर का समवसरण देवों द्वारा रचा गया होता तो यह असंभव था कि उस चमत्कार के होते हुए भी लोग गोशालक और बुद्ध के पास जाकर उनके शिष्य बनते। दिगम्बर जैनियों में बीस पंथी लोग प्रतिमा पर केशर चन्दन लगाने, फूलों से अलंकृत करने व पंचामृत अभिषेक करने लगे (उनके प्राचीन ग्रन्थों में पंचामृत अभिषेक आदि का वर्णन कहीं नहीं है) और श्वेताम्बर मूर्तिपूजक इसके अतिरिक्त, मूर्तियों पर नेत्र लगाने, चांदी सोने की रत्न जडित आंगी व मुकुट कुण्डल आदि आभूषण भी पहनाने लग गये। परन्तु जैनियों के तीर्थंकर तो निष्परिग्रही और वीतराग होते हैं और इस कारण ही वे उनकी उपासना करते हैं। उनकी वीतराग अवस्था की प्रतिकृति स्वरूप मूर्तियों को किसी भी प्रकार अलंकारित करना तथा उनके नाम पर वैभव का प्रदर्शन करना सर्वथा अनुचित है। आभूषण रहित वीतराग मूर्ति के समक्ष जो भाव पैदा होते हैं वे आभूषणों से अलंकृत प्रतिमा के सामने नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त जब मुनि दीक्षा लेने के पश्चात् मुनि ही स्नान के त्यागी हो जाते हैं तो अरहन्तों की अरहन्त अवस्था की प्रतिमाओं का जल, दूध, दही आदि से अभिषेक करना व उन पर केशर, चन्दन, पुष्प लगाना व उन्हें अलंकारित करना भी धर्म की विडम्बना ही है। अभिषेक के समर्थन में, "जैन दर्शन में उपासना एवं स्याद्वाद" पुस्तक में तर्क दिया गया है कि जिन प्रतिमा तो निर्जीव पाषाण या धातु की मूर्ति है। मेरा प्रश्न है कि आपके कमरे में आपके पिताजी का चित्र लगा हो तो क्या आप पितृभक्ति के नाम पर उस निर्जीव चित्र की भी पिता के योग्य परिचर्या करने लग जावेंगे? इसी प्रकार, जब आप स्वयं अरहन्त प्रतिमाओं को केवल धातु पाषाण की मूर्तियाँ मानते हैं, तो उन मूर्तियों की पूजा भक्ति अभिषेक आदि को कैसे उचित कहा जा सकता है। यह अवश्य है कि मूर्ति पर आये रजकण को हटाने के लिए की जाने वाली प्रक्षाल, अभिषेक से बिलकुल भिन्न क्रिया है, उसका भक्ति प्रदर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं है। विशेष के लिए पाठक "अरहन्त प्रतिमा का अभिषेक जैन धर्म सम्मत नहीं" पुस्तिका को

देखने की कृपा करे। इसके अतिरिक्त, तीर्थंकरों ने गृहस्थावस्था में आभूषण पहने हों परन्तु हमें तो उनकी अरहन्त अवस्था से ही प्रेरणा लेनी है अतः उनकी वीतराग अवस्था की मूर्तियों को अलंकृत करके उनके स्वरूप को विकृत कर देना सर्वथा अनुचित है। उससे तो भोग की भावना ही प्रज्ज्वलित होती है, वीतराग भाव की प्रेरणा नहीं मिल सकती।

आडम्बर के कारण ही जैनियों में आपसी मतभेद व झगड़े – अस्तु, इसके विरोध में श्वेताम्बरों में स्थानकवासी व तेरापंथी तथा दिगम्बरों में तारणपंथी पैदा हो गये। उपरोक्त आडम्बर की प्रतिक्रिया स्वरूप वे मूर्ति पूजा के ही नहीं, मूर्ति के भी विरोधी बन गये। **जैसाकिआचार्य श्री तुलसी ने** आचार्य श्री भिक्षु स्मृति ग्रन्थ के पृष्ठ ३५ पर **पर लिखा है, 'मूर्ति पूजा के विरोध का मूल हेतु उसके परिपार्श्व में विकसित आडम्बर है। मूर्ति एकाग्रता के आलम्बन के रूप में स्वीकृत हुई परन्तु आगे चलकर उसने साध्य का रूप ले लिया। यहाँ से उसकी प्रतिक्रिया का बीज वपन हो गया और मूर्ति के विरोध में स्वतन्त्र शाखाओं का विकास हुआ।"**

दूसरी ओर, इन आडम्बरों को करने वालों में आडम्बर के भेद के कारण आपसी झगड़े होने लगे। दिगम्बर तथा श्वेताम्बर मूर्ति पूजकों के बीच तीर्थ क्षेत्रों सम्बन्धी झगड़े वर्षों से चल रहे हैं, मुकदमों में लाखों रुपया व्यय हो चुका है और आपसी समझोते के सब प्रयत्न असफल रहे हैं। दिग० जैन समाज के अन्दर भी तेरापंथ, बीसपंथ के झगड़े बढ़ते जा रहे हैं। इस प्रकार मूर्तियों पर किये जा रहे इस आडम्बर ने जैन समाज की बहुत हानि की है, समाज के टुकड़े कर दिये हैं और जो एक हैं वे भी शान्ति से नहीं रह पा रहे हैं। प्रतिमाओं पर नेत्र लगाये जाते है उस सम्बन्ध में श्वेताम्बर आचार्य श्री कल्याण विजय सूरिजी ने अपनी पुस्तक "जिन पूजा पद्धति" में लिखा था "प्रतिमाओं पर जो नेत्र चढ़ाये या चिपकाये जाते हैं वे कितने अस्वाभाविक व असुन्दर हैं ? अपनी परम्परागत शास्त्रीय प्रणाली में ऐसे नेत्र चढ़ाने का व चिपकाने का एक भी प्रमाण आज तक उपलब्ध नहीं है।" इसी-

प्रकार "श्रमण" में प्रकाशित अपनी विज्ञप्ति में स्व० श्वे० मुनि श्री न्याय विजयजी ने अंग रचना आदि के सम्बन्ध में लिखा था, "श्वेताम्बर मूर्ति पूजक वर्ग को जिन प्रतिमा पर अंग-रचना करना बन्द कर देना चाहिये। मुकुट अथवा कोई भी आभूषण जिन प्रतिमा पर नहीं लगाना चाहिए। यह परिवर्तन शास्त्रानुकूल होने के कारण श्वेताम्बर मूर्ति पूजक वर्ग को करना उचित है।"

आवश्यकता है कि दोनों मूर्ति पूजक संप्रदायों के प्रबुद्ध बन्धु व नवयुवक आन्दोलन करके अपने-अपने मन्दिरों में तथा वीतराग प्रतिमाओं पर किया जा रहा आडम्बर बन्द करवावें और वर्षों से चले आ रहे तीर्थ क्षेत्रों के झगड़ों को समाप्त करवाने का मार्ग प्रशस्त करें। मेरा तो विश्वास है यदि मूर्ति पूजक जैन सम्प्रदाय इस आडम्बर को बन्द कर देवें तो मूर्ति विरोधी स्थानकवासी, तेरापंथी व तारणपंथी भी मूर्ति विरोधी नहीं रहेंगे और जैन समाज की एकता का मार्ग प्रशस्त होगा क्योंकि पंथ भेद मुख्यतः पूजा पद्धति के कारण ही है।

पंच कल्याणक प्रतिष्ठा आदि—

मूर्ति प्रतिष्ठा का उद्देश्य मान्यता देना—यह तो सभी विद्वान मानते हैं कि अरहंत मूर्तियों की प्रतिष्ठा का उद्देश्य मान्यता देना है कि यह मूर्ति अमुक् तीर्थंकर भगवान की है। जैन शास्त्रों के अनुसार यह स्थापना निक्षेप का विषय है। इसके लिए तत्वार्थ सूत्र (अध्याय १ सूत्र ५) व राजवार्तिक आदि प्राचीन शास्त्रों में कहीं नहीं बताया गया है कि स्थापना निक्षेप (मान्यता देने) के लिए स्थापनीय पदार्थ की अमुक विधि विधान से प्रतिष्ठा होनी आवश्यक है। "प्रतिष्ठा" शब्द "स्था" धातु से बना कि जिसका अर्थ स्थापित करना है। अस्तु, प्रतिमा को वेदी में विराजमान (स्थापित) कर देना ही उसकी प्रतिष्ठा है। हम प्रत्यक्ष ही देखते हैं कि शतरंज के मोहरों में बादशाह, वजीर, प्यादे आदि की स्थापना (आरोप) कर ली जाती है। राजनेता, विद्वान आदि के चित्र व मूर्तियाँ स्थान स्थान पर स्थापित की जाती हैं तथा भ० महावीर और वर्तमान मुनियों के चित्र मन्दिरों में लगाये जाते हैं–वे बिना

किसी विशेष विधि विधान के हमसे मान्यता प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार स्थापना निक्षेप (मान्यता देने) के लिए सिद्धान्ततः किसी विधि विधान का प्रश्न नहीं पैदा होता। यदि मान्यता सामाजिक स्तर पर देनी हो तो जैसे आजकल अनावरण समारोह किया जाता है उस प्रकार की कोई प्रतिष्ठा विधि निश्चित की जा सकती है। परन्तु वर्तमान में प्रतिष्ठा के लिए दो बातें आवश्यक समझी जाती हैं—एक तो प्रतिमा की प्राण प्रतिष्ठा दूसरे पंच कल्याणक। इसी पर आगे प्रकाश डाला गया है।

मंत्रोपचार द्वारा प्रतिमा की प्राण प्रतिष्ठा की निरुपयोगिता—तीर्थंकर प्रतिमा को मान्यता देने के लिए मंत्रोपचार और हवन द्वारा उसकी प्राण प्रतिष्ठा आवश्यक समझी जाती है, उसे सूर्य मंत्र सुनाया जाता है। यह माना जाता है कि इससे प्रतिमा में सचेतनता आती है, अतिशय और चमत्कार पैदा होते हैं, उसमें पूज्यता आती है। यहाँ **पहली बात** तो यह है कि जैसा कि तत्वार्थ सूत्र में कहा है "मोक्षमार्गस्य नेतारम्……वंदे तद्गुणलब्धये," अरहन्तों की उपासना उनके जैसे गुण हमें भी प्राप्त हों—इस उद्देश्य से की जाती है। इसके लिए यह तो आवश्यक है कि मूर्ति की मुद्रा निर्ग्रंथ और वीतराग स्वरूप हो ताकि मूर्ति को देखकर जिनकी मूर्ति है उनकी स्मृति हो जावे परन्तु इसकी कोई आवश्यकता नहीं है कि मूर्ति में अतिशय और चमत्कार भी हों। **मंत्र और हवन द्वारा प्रतिमा में अतिशय और चमत्कार तो वे ही पैदा करना चाहते हैं कि जो उनसे वीतराग बनने (रागद्वेष मुक्ति) के लिए प्रेरणा लेने के बजाय अपनी सांसारिक कामनाओं की पूर्ति करना चाहते हैं।** इस प्रकार प्रतिमा के मंत्र संस्कार द्वारा अतिशय और चमत्कार पैदा करने की जैन उपासना सिद्धांत के साथ कोई संगति नहीं है। यह विधि तो वैदिक धर्म के प्रभाव से जैन धर्म में आई है। इस संबंध में पं० भँवरलालजी पोल्याका जैनदर्शनाचार्य ने तो "षडआवश्यकों एवं मूर्ति निर्माण में विकृतियाँ" पुस्तिका में यह भी प्रमाणित किया है कि वर्तमान काल में प्रतिष्ठित मूर्तियां तो शास्त्रोक्त विधि से भी निर्मित नहीं होतीं।

इसी प्रकार हवन की परिपाटी भी वैदिक धर्म से आई है। इसमें हिंसा तो होती ही है, इसके अतिरिक्त आज के सँहगाई के समय में घी, मेवा आदि को आग में जलाकर धर्म मानना किसी प्रकार उचित नहीं है। हवन के संबंध में शास्त्र प्रमाणों सहित विशेष जानकारी के लिए "जैन निबन्ध रत्नावली" (द्वारा श्री मिलापचन्दजी रतनलालजी कटारिया, केकड़ी) में "जैन धर्म और हवन" शीर्षक लेख तथा "पद्मावती आदि शासन देवों, होम, हवन, मंत्र तंत्र संबंधी मिथ्यात्व" पुस्तिका को पढ़ें। **दूसरी बात** मंत्रों की प्रभावकता के सम्बन्ध में है। **मन्त्रों की ध्वनि का भी महत्व होता है परन्तु असली महत्व तो मन्त्र की साधना करने वाले की संकल्प शक्ति का होता है। जहां संकल्प शक्ति नहीं होती वहाँ केवल मन्त्र का कोई फल नहीं होता।** पुराने समय में हमारे साधु ध्यान की साधना द्वारा संकल्प शक्ति (सिद्धियाँ) प्राप्त करते थे। उनके ही नहीं, भट्टारकों के भी चमत्कारों के अनेक उदाहरण हैं। परन्तु वर्तमान में मैं नहीं समझता कि हमारे कोई ऐसे संकल्प शक्ति वाले प्रतिष्ठाचार्य हैं कि जो मंत्र संस्कार द्वारा प्रतिमाओं में चमत्कार पैदा कर सकते हैं। उदाहरण के लिए 10 से 14 मई 1982 को जयपुर में चूलगिरि पर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के समय होम, हवन, मंत्र जप पूर्वक प्रतिमाओं की प्राण प्रतिष्ठा और विश्व शांति यज्ञ किया जाने पर भी 14-5-82 को भयंकर तूफान और वर्षा से बड़ी भारी बरबादी हो गई, तंबू उखड़ गये और उनमें ठहरे हुए हजारों भाइयों को बड़ा कष्ट हुआ। अतः वर्तमान में तो मंत्र संस्कार से प्रतिमाओं में सचेतना, अतिशय व चमत्कार पैदा करने की बात मात्र धोखा है। मेरी इस बात को गलत प्रमाणित करने का अभी तक किसी विद्वान बन्धु ने साहस नहीं किया है।

तीसरी बात मन्त्रों द्वारा प्रतिमा में पूज्यता आने बाबत है। यह कहना भी गलत है कि मंत्र संस्कार से प्रतिमा में पूज्यता आजाती है। मंत्र संस्कार के बाद भी (जैनियों को छोड़कर) अन्य लोग प्रतिमा को पूज्य नहीं मानते, उसकी पूजा नहीं करते, इससे स्पष्ट है कि मंत्र संस्कार से प्रतिमा में पूज्यता नहीं आती,

प्रतिमा के प्रति पूज्यता की भावना और उसका विनय तो भक्तों की भावना में होता है। जैन सिद्धांतानुसार, पूज्यता की भावना ईश्वरकर्तृत्ववादियों की पूज्यता की भावना जैसी नहीं है। तीर्थंकरों के गुणों में अनुराग से प्रेरित, अपने आदर्श के रूप में उनके प्रति हमारी आदर की भावना होती है (कि जिसके लिए भेदविज्ञान और कषाय भाव की हेयता का ज्ञान होना आवश्यक है) वही हमारी उनके प्रति पूज्यता की भावना व विनय है। "पूज्य" शब्द का अर्थ भी आदरणीय है। यदि ऐसी भावना हममें है तो मंत्र संस्कार न की हुई मूर्ति या चित्र के दर्शनों से भी उनके गुणों का स्मरण होकर हमें आत्म-सुधार के लिए प्रेरणा अवश्य मिलेगी तथा **जिनमें तीर्थंकरों के गुणों में अनुराग तथा उन्हें अपने जीवन में उतारने की उत्कंठा नहीं होती वे चाहे इस अंध विश्वास के कारण कि मन्त्र संस्कार न होने पर प्रतिमा में अतिशय व चमत्कार नहीं आता, प्राण प्रतिष्ठा न हुई मूर्ति को कोरा पाषाण खिलौना या और कुछ मानते रहें, वर्तमान परिपाटी के अनुसार प्रतिष्ठित मूर्ति के प्रति पूज्यता की भावना भी मात्र अंध-भक्ति है, उम्रभर उसके दर्शन पूजन करने पर भी उनका आत्मसुधार नहीं होता।**

प्रतिष्ठाओं में पंचकल्याणकों के प्रदर्शन का अनौचित्य— प्रतिष्ठाओं के समय अभिनय किया जाता है कि तीर्थंकर माता के गर्भ में रहे तब उनके घर कुबेर ने रत्नों की वर्षा की, देवियाँ उनकी माता की सेवा में रहने लगीं, जन्म के समय भी इन्द्र ने अपनी इन्द्राणी और देवसेना को साथ लेकर उन्हें ऐरावत हाथी पर बिठाकर सुमेरु पर्वत पर लेजाकर उनका अभि-षेक किया। ऐरावत हाथी के आठ आठ दांत, प्रत्येक दांत पर सरोवर, सरोवरों में कमल तथा उनकी प्रत्येक पांखडी पर देवांगनाएँ नृत्य करती थीं तथा 32-32 कोस गहरे स्वर्ण के कलशों से उनका अभिषेक किया गया था। हिन्दू देवताओं की तरह उनकी वीतराग मुद्रा की प्रतिमा को भी पालने में झुलाया जाता है, हैलीकोप्टर द्वारा आकाश से पुष्प वृष्टि कर देवताओं द्वारा पुष्प-वृष्टि का अभिनय किया जाता है तथा इस सब अभिनय के लिए धन संग्रह

करने को भ० तीर्थंकर के माता पिता, इन्द्र इन्द्राणी तथा १००८ देव देवियाँ बनाने के लिए बोलियाँ लगवाई जाती हैं और जो अधिक से अधिक बोली लगाते हैं उन्हें ही यह सम्मान प्राप्त होता है चाहे नैतिक और धार्मिक दृष्टि से उनका जीवन कैसा भी हो। गजरथ चलाना भी पहले तो बुंदेलखंड में ही था, अब वह उत्तरी भारत में भी फैलता जा रहा है। आयोजक इन्हें इस ढंग से करते हैं कि दोनों कार्य एक प्रकार का व्यापार बन गये हैं। मूर्ति पूजक श्वेताम्बर बंधु पंचकल्याणक प्रतिष्ठा को अंजनशलाका महोत्सव कहते हैं।

(1) यहाँ पहली बात तो यह है कि देवताओं का उपरोक्त वर्णन, नौ मास तक रत्नों की वर्षा, ऐरावत हाथी के दांतों पर सरोवर होने और उनमें खिले कमलों की पांखड़ियों पर देवांगनाओं द्वारा नृत्य आदि ऐसी बातें हैं कि जिन्हें अजैन लोग ही नहीं, हमारा नवयुवक वर्ग भी कपोल कल्पित व गप्पें मानता है क्योंकि इस युगमें विज्ञान व तर्क विरोधी बातें चल नहीं सकतीं। भ० महावीर का शरीर तो युवावस्था में भी मात्र सात हाथ का था, अतः जन्म के समय 32-32 कोस गहरे 1008 कलशों से उनके अभिषेक की बात कल्पित ही मानी जावेगी। ऐरावत हाथी सम्बन्धी उपरोक्त वर्णन के सम्बन्ध में तो प्रसिद्ध जैन विद्वान स्व. पं. बेचरदासजी दोसी ने भी "जैन साहित्य में विकार" में लिखा था। "हाथी के दांतों पर पानी की वापिकाएँ होने का जो उल्लेख किया है वह तो सर्वथा ही असत् में सत् करने जैसा, शिला पर कमल जमाने के सामान और देश, काल, शास्त्र एवं रूढ़ि विरुद्ध है।" यहाँ कहा जा सकता है कि शास्त्रों में लिखी हुई सर्वज्ञ भगवान की वाणी को हम असत्य कैसे मानलें? उन विद्वान महानुभावों से मेरा प्रश्न है कि सूर्य, चन्द्रमा आदि ग्रहों के सम्बन्ध में भट्ट अकलंक देव के तत्वार्थ राजवार्तिक के चौथे अध्याय के बारहवें सूत्र के दसवें वार्तिक में लिखा है कि वे देवताओं के विमान हैं और पृथ्वी पर स्थित सुमेरु पर्वत के चारों ओर चक्कर लगाते रहते हैं। सूर्य और चन्द्रमा के विमानों को सोलह सोलह हजार देव, सिंह, हाथी, बैल और घोड़े का रूप बनाकर खेंचते हैं तथा अन्य ग्रहों व नक्षत्रों के विमानों को चार

चार हजार देव तथा तारों के विमानों को दो दो हजार देव खेंचते हैं। तत्वार्थ सूत्र के श्वेताम्बर संप्रदाय में मान्य भाष्य की, चौथे अध्याय के 14 वें सूत्र की सिद्धसेनीय वृत्ति में भी लगभग इसी प्रकार का वर्णन है। इसी प्रकार तत्वार्थ राजवार्तिक के ही तीसरे अध्याय के बत्तीसवें सूत्र के चौथे और आठवें वार्तिक में लिखा है कि समुद्र में पाताल में 142000 देव रहते हैं, वे समुद्र को बीच में से ऊँचा उठाये हुए हैं और उन्हीं पातालों में नीचे वायुकुमार देव देवियाँ नृत्य करती हैं उसके कारण वायु में विक्षोभ होता है उससे समुद्र में ज्वार भाटा होता है।

(2) जैन शास्त्रों के अनुसार गर्मी में बड़ा से बड़ा दिन 18 मुहूर्त का अर्थात् (एक मुहूर्त=48 मिनट से) 14 घंटे 24 मि० का होता है तथा सर्दी में रात्रि भी अधिक से अधिक इतनी ही बड़ी होती है। परन्तु आजकल यह प्रमाणित है कि नार्वे स्वीडन में 3–3 महीने के तथा उत्तरी एवं दक्षिणी ध्रुव प्रदेशों में छह छह मास के दिन एवं रात होते हैं, टुंड्रा में गर्मी में 22 घंटे का दिन व 2 घंटे की रात्रि होती है तथा सर्दी में 22 घंटे की रात्रि व 2 घंटे का दिन होता है।

(3) जैन शास्त्रों के अनुसार वर्तमान की कुल पृथ्वी आर्यखंड का छोटा सा भाग है तथा एक योजन =4000 मील मानते हुए वर्तमान कुल पृथ्वी ही मात्र 6 योजन के लगभग लंबी व इतनी ही चौड़ी है और इस प्रकार वह आर्य खंड का जो 238 योजन (952000 मील) चौड़ा और 2000 योजन (8000000 मील) लंबा है उसका छोटा सा भाग ही है और हमारे यहां से अमरीका तक की दूरी केवल 3 योजन के लगभग होती है। जबकि हमारे शास्त्रों के अनुसार पृथ्वी चपटी है (गोल नहीं)। इतनी सी दूरी में अमरीका और हमारे यहां के समय में 12 घंटे का अंतर होने का तथा बम्बई और कलकत्ता के समय में 1 घंटे का अंतर होने का कारण हमारे शास्त्रों में नहीं मिलता; परन्तु आधुनिक विज्ञान के अनुसार पृथ्वी नारंगी के समान गोल है, उसकी परिधि 25000 मील के लगभग है और वह अपनी धुरी पर 24 घंटे में एक चक्कर करलेती है, अतः लगभग 1000 मील की पूर्व पश्चिम दूरी पर समय में एक घंटे का अंतर रहता है और इसीलिए

हमारे यहां के समय से अमरीका के समय में कि जो लगभग 12000 मील दूर है, लगभग 12 घंटे का अंतर रहता है।

(4) जैन शास्त्रों के अनुसार आर्यखंड के पूर्व पश्चिम में गंगा, सिंधु नदियां हैं (और उनकी मान्यता के अनुसार वे वर्तमान गंगा, सिंधु नदियों से भिन्न हैं) तथा दक्षिण में लवण समुद्र है तथा आर्यखंड के मध्य में और कोई समुद्र नहीं है। ऐसी स्थिति में वर्तमान में प्रशांत महासागर, एटलांटिक महासागर हैं उनके बाबत जैन शास्त्रों में कोई स्पष्टीकरण नहीं मिलता।

(5) नंदीश्वर द्वीप में अकृत्रिम चैत्यालयों के अस्तित्व की असंगति के संबंध में पाठक ' अरहंत प्रतिमा का अभिषेक जैन धर्म सम्मत नहीं" पुस्तिका का परिशिष्ट देखने की कृपा करें।

उपरोक्त बातें आधुनिक विज्ञान से गलत प्रमाणित हो गई हैं। अब जैन विद्वान बंधु बताने की कृपा करें कि क्या आप शास्त्रों के उपरोक्त वर्णन को सही मानते हैं? चन्द्रमा पर मनुष्य के प्रथम पदार्पण के बाद स्व० पं० परमेष्ठीदास जी न्यायतीर्थ ने दि० जैन विद्वत् षरिषद् के स्वागताध्यक्ष की हैसियत से दि० 13-2-73 को कहा था "चंद्रमा पर मानव यात्रा और वहाँ की नूतन उपलब्धियों से हमारा सैद्धांतिक तालमेल नहीं बैठता, इसलिए समाज में विविध प्रकार की भ्रांतियाँ बढ़ रही हैं और हम जानबूझ कर उस ओर से आँख बंद करके योग क्षेम मान रहे हैं।......हमारी विद्वत् परिषद् को इन पर गंभीरता पूर्वक विचार करके सुनिश्चित समाधान देना चाहिए और ऊपर लिखित समस्याओं का उल्लेखनीय हल देना चाहिए।" क्या कारण है कि विद्वानों ने अब तक निर्णय लेकर समाज का मार्गदर्शन नहीं किया? क्या कारण है कि तत्वार्थ सूत्र के तीसरे चौथे अध्याय और उनकी टीकाओं को जैन विद्यालयों में नहीं पढ़ाया जाता?

वस्तु स्थिति यह है कि शास्त्र लिखना भ० महावीर के लगभग 600 वर्ष बाद चालू हुआ था और क्योंकि वे रचनाकार छद्मस्थ थे, सर्वज्ञ तो दूर

श्रुतकेवली भी नहीं थे अतः स्वर्ग नरक आदि संबंधी उस समय जो धारणायें थीं उन्हें उनने अपने शास्त्रों में स्थान दे दिया। (स्वर्ग नरक आदि के संबंध में ऐसे वर्णन अन्य धर्मों के शास्त्रों में भी है) परन्तु अब ऐसे शास्त्रीय वर्णन वैज्ञानिक खोजों से गलत प्रमाणित हो चुके हैं। इसीलिए ऐलाचार्य मुनि विद्यानन्दजी महाराज ने "वीर" दि० 15-8-69 में लिखा था "अभी पिछले दिनों चन्द्रमा की खोज करते करते अमरीका ने दो मनुष्यों को चन्द्रमा के धरातल पर उतारा। .... चांद पर पहुँचे या न पहुँचे, धर्म में कौनसी न्यूनता आ गई।.........हमें हठवाद नहीं करना चाहिए। नई बातों को भी हमें स्वीकार करना चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि हर पुरानी बात वर्तमान काल में भी सही हो।" श्वेताम्बर शास्त्रों में भी ऐसे ही वर्णन हैं। अतः आचार्य श्री तुलसी महाराज ने भी "अणुव्रत" दि० 1-9-69 में लिखा था "शास्त्रों में चांद का जो स्वरूप वर्णित है, वैज्ञानिकों ने उससे बिलकुल भिन्न रूप से ही प्रस्तुत किया हे।.........किंतु इससे बुरा क्या हुआ? यह अच्छा ही तो हुआ कि जिस सत्य से हम आज तक अज्ञात थे वह आज अनावृत हो गया। मैं इस बात में कोई सार नहीं देखता कि विज्ञान की पहुँच में आने वाला चन्द्रमा वह नहीं है जो शास्त्रों में वर्णित है।.........कुछ लोग यह तर्क भी प्रस्तुत करते हैं कि वे लोग जिस धरती पर गये, क्या पता वह धरती इस चांद की है? यह मुझे बचकाना तर्क लगता हे। अमरीका ने यह कार्य जगत को अंधेरे में रखकर तो नहीं किया है। यदि वह चांद में नहीं पहुँच पाता तो रूस जैसा उसका शत्रु देश कभी इस तथ्य को स्वीकार नहीं करता। ब्रिटेन आदि अन्य देशों की वैधशालाओं ने भी इस चंद्र यात्रा को साक्षात् देखा है। फिर हम इसे कैसे अस्वीकार कर सकते है। **मेरा भ० महावीर की सर्वज्ञता में कोई संदेह नहीं है किंतु इसमें अवश्य संदेह है कि समस्त शास्त्र उनकी वाणी का ही संकलन है।"**

इस प्रकार नरक स्वर्ग आदि संबंधी बातों से धर्म का कोई संबंध नहीं है। इनके गलत प्रमाणित होजाने से धर्मका कुछ नहीं बिगडता और इस कारण हमारे पूज्य **प्राचीन आचार्यों** के प्रति आदर भाव में कमी आने का कोई

प्रश्न ही नहीं पैदा हो सकता। **उनने तो स्वयं ही कहा है कि शास्त्रों में लिखी बातें भी जो प्रत्यक्ष और तर्क विरोधी हों उन्हें मत मानो।** स्वामी समंतभद्राचार्य ने रत्नकरंड श्रावकाचार में सच्चे शास्त्र का एक लक्षण यह बताया है कि "अदृष्टेष्ट-विरोधकम्" अर्थात् जो प्रत्यक्ष और तर्क से विरुद्ध न हो वही सच्चा शास्त्र है। इसी प्रकार प्रसिद्ध श्वेताम्बर आचार्य श्री हरिभद्र सूरि ने भी कहा है "पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु। युक्तिमत्वचनम् यस्य तस्यकार्य परिग्रहः॥ अर्थात् न तो मुझे महावीर से पक्षपात है, न कपिल आदि अन्य मतवालों से द्वेष है, जिसका वचन युक्ति से सिद्ध है, वही मुझे मान्य है। अस्तु स्व० पं० टोडरमलजी ने भी मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अधिकार में लिखा है "परीक्षा करके जिन वचन की सत्यता पहचान कर जिन आज्ञा मानना योग्य है, बिना परीक्षा किये सत्य असत्य का निर्णय कैसे हो:".........."बिना परीक्षा किये केवल आज्ञा ही द्वारा जो जैनी हैं उन्हें भी मिथ्यादृष्टि जानना।" इस प्रकार जैन धर्मानुसार तो युक्ति और विज्ञान विरोधी बातों के लिए जैन धर्म में कोई स्थान नहीं है। ऐसी स्थिति में जैन विद्वान् शास्त्रों में लिखी प्रत्येक बात को सर्वज्ञ कथित बताकर और समाज को गुमराह करके प्रतिष्ठाओं के समय पंच कल्याणकों के आयोजन कराकर, देवताओं आदि के काल्पनिक अभिनय कराते रहें, जम्बूद्वीप और नंदीश्वरद्वीप की रचनाओं के नाम पर समाज का लाखों रुपया बरबाद करावें, क्या यह शोभनीय है?

(2) दूसरी बात यह है कि तीर्थंकरों को अपने आदर्श मानकर उन्हीं की तरह वीतराग (कषाय मुक्त) बनने के लिए उनकी प्रतिमाओं से हम प्रेरणा प्राप्त कर सकें—इसके लिए भी **यह आवश्यक है कि हम उन्हें अलौकिक न बनादें वरना वैसा ही बनने की प्रेरणा हम कभी प्राप्त नहीं कर सकते।** इस दृष्टि से हम विचार करें तो भी स्पष्ट है कि प्रतिष्ठाओं में पंच कल्याणकों के प्रदर्शन किये जाते हैं उनमें मुख्य रूप से अलौकिकता के ही दर्शन होते हैं। ये विचार मेरे ही नहीं हैं, स्थितिपालकों के ही प्रसिद्ध जैन विद्वान् डा० लाल बहादुरजी शास्त्री ने "जैन दर्शन"

दि० 31–3–67 में लिखा था—"तीर्थंकर परीषह भी सहते हैं और उपसर्ग भी। वहाँ न कोई देवता आते थे, न दूसरे भक्त।''.......ऐसे कितने हैं जो महावीर के उस मनुष्य रूप की पूजा करते हैं ? जो पूजा करते हैं वे उन कल्याणकों को देखते हैं—अतिशय और चमत्कारों को देखते हैं जिनमें देवताओं की भरमार रहती है—वैभव और अतिशयों का प्रदर्शन रहता है—लोकोत्तरता का पुट रहता है।'' इस प्रकार पंच कल्याणकों के प्रदर्शन से कोई प्रेरणा नहीं मिलती, क्योंकि जैसा कि डा० लालबहादुर शास्त्रीजी ने भी कहा है, हम तो वहाँ अतिशय और चमत्कारों को देखते हैं, भगवान के मनुष्य रूप को नहीं।

(3) तीसरी बात प्रतिमाओं के पांच कल्याणक करने की आवश्यकता के सम्बन्ध में है कि वह क्यों जरूरी है ? जैसाकि पहले कहा जा चुका है, तीर्थंकरों की प्रतिमाओं द्वारा उपासना का उद्देश्य उन्हीं की तरह वीतराग होने के लिए प्रेरणा लेना है। इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रतिमा वीतराग स्वरूप हो और प्रतिष्ठा का उद्देश्य प्रतिमा को मान्यता देना मात्र है। इस दृष्टि से यह तो उचित है कि प्रतिमा को सामाजिक स्तर पर मान्यता देते समय समारोह करके तीर्थंकर के जीवन पर प्रकाश डाला जावे ताकि लोगों को वैसा ही बनने के लिए प्रेरणा मिले। परन्तु उनकी उस वीतराग स्वरूप प्रतिमा के ही पांच कल्याणक करने का कोई औचित्य नहीं है। यदि पांचों कल्याणक किये बिना ही प्रतिमा की प्रतिष्ठा करदी जावे तो क्या हानि होगी ? क्या उससे इच्छित प्रेरणा नहीं मिलेगी और क्यों ? पंच कल्याणक करने में तो कई विसंगतियां भी हैं। हम प्रतिमा तो बनाते हैं उनकी केवलज्ञान अवस्था की और उसे पालने में भुलाते हैं, आहार देते हैं उसका अभिषेक करते हैं, आदि। यदि केवलज्ञान अवस्था की प्रतिमा के गर्भ, जन्म निर्वाण आदि कल्याणक मनाये जा सकते हैं तो फिर जन्म के समय की प्रतिमा बनाकर उसके पांचों कल्याणक कर उसे ही वेदी में विराजमान क्यों नहीं कर सकते ? इस प्रकार प्रतिष्ठा के उद्देश्य की दृष्टि से भी प्रतिमा के पांच कल्याणक करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

मूर्ति प्रतिष्ठा इतिहास की दृष्टि में—

(1) यदि इतिहास पर दृष्टि डाली जावे तो सबसे प्राचीन प्रतिष्ठा पाठ जयसेन (वसुबिंदु) तथा वसुनंदि के माने जाते हैं कि जो क्रमशः नवीं और बारहवीं शताब्दी के लगभग अर्थात् भ० महावीर के 1400 वर्ष बाद हुए। इससे पूर्वका न तो कोई प्रतिष्ठा पाठ ही उपलब्ध है और न ही इससे पूर्वकी ऐसी प्रतिमाएँ हैं कि जिन पर प्रतिष्ठाचार्य का नाम और प्रतिष्ठित होने का उल्लेख हो। इसलिए छठी शती से पूर्व के शास्त्रों में स्थापना निक्षेप (मान्यता देने) के आशय को प्रगट करने को केवल प्रतिष्ठा आदि शब्दों का प्रयोग है, प्राणप्रतिष्ठा व पंच कल्याणकों की विधि नहीं है। इससे यही नतीजा निकाला जा सकता है कि उस समय पंच कल्याणक करके प्रतिष्ठा करने की कोई विधि नहीं थी। इस सम्बन्ध में महावीर जयन्ती स्मारिका जयपुर के प्रधान संपादक के रूप में विख्यात पं० भँवरलाल जी पोल्याका जैनदर्शनाचार्य के पत्र दि० 18–6–79 का निम्न उद्धरण पठनीय है। "दसवीं शताब्दी से पूर्व की किसी भी मूर्ति पर उसके प्रतिष्ठित होने का उल्लेख भी मिलता है या नहीं यह प्रश्न भी ध्यान देने योग्य है। मूर्ति निर्माण कराने वाले, निर्माण का संवत तथा शिल्पी के नाम इत्यादि तो ऐसी मूर्तियों पर मिलते हैं किन्तु प्रतिष्ठाचार्य आदि के नाम अथवा उसके प्रतिष्ठित होने का उल्लेख जैसा कि आजकल होता है कहां मिलते हैं। अप्रतिष्ठित प्रतिमा पूज्य नहीं है ऐसा भी कौन से दसवीं शताब्दी से पूर्व के ग्रन्थ में लिखा है।" प्रसिद्ध विद्वान पं० रतनलालजी कटारिया, केकडी ने भी लिखा है "अंग-पूर्व-प्रकीर्णक-अंग बाह्यादि शास्त्रों के विवेचन में कहीं भी मूर्ति निर्माण प्रतिष्ठा के विषय का उल्लेख किया गया देखने में नहीं आया, अतः यह विषय बाद में प्रस्फुटित हुआ प्रतीत होता है।"

वास्तविकता यह है कि **प्रचलित पंचकल्याणक प्रतिष्ठा विधि की विकृति तो मध्ययुग में हिंदू धर्म के प्रभाव से पैदा हुई थी।** संहिता सूरि पं० नाथूलालजी शास्त्री ने "सन्मति वाणी" सितंबर १९८० में लिखा है "छटी या आठवीं शताब्दी व मध्यकाल में जैन शासन में शासन देवों

(यक्ष यक्षिणियों) व तांत्रिक युग के प्रभाव से नये देव देवियों की कल्पना की गई।'' मेरी यह भी मान्यता है कि हिन्दू धर्म के प्रभाव से ही मूर्ति प्रतिष्ठा में मंत्र संस्कार, हवन व पंच कल्याणक करने की विकृति भी उसी काल में पैदा हुई। यही नहीं, **इस प्रतिष्ठा विधि के द्वारा ही शासन देव पूजा, आवाहन, विसर्जन आदि विकृतियाँ भी जैन उपासना पद्धति में प्रवेश कर गईं।**

(2) जैसाकि जैन संदेश दि० ४-१२-८० में प्रकाशित हुआ है अ. भा. दि० जैन परिषद् द्वारा जारी प्रश्नावली के उत्तर में समाज के मूर्धन्य विद्वान् ब्र० पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री, पं० फूलचंदजी शास्त्री, संहिता सूरि पं० नाथूलालजी शास्त्री और प्रो० खुशालचन्दजी गोरावाला ने लिखा है कि सौ वर्ष पूजा होते-होते अप्रतिष्ठित मूर्ति भी प्रतिष्ठित मानली जाती है। इसी प्रकार डा० लालबहादुरजी शास्त्री ने भी "जैन दर्शन" दि० 2-6-80 में लिखा है कि अप्रतिष्ठित मूर्ति भी दीर्घकाल तक पूजी जाने पर प्रतिष्ठित की तरह पूज्य बन जाती है। इससे सिद्ध है कि प्राचीनकाल में लोग अरहंत स्वरूप की सूचक प्रतिमाएं बनाकर बिना प्रतिष्ठा कराये ही उन्हें पूजने लगजाते थे और उन अप्रतिष्ठित प्रतिमाओं में उनके पूज्यता के भाव भी रहते थे तथा जैसाकि आगम दीपिका (द्वारा मुनि श्री विजयसागरजी महाराज, संपादित पं० रतनलालजी कटारिया केकडी) में पृष्ठ 78 पर महापुराण का श्लोक 43-26 उद्धृत करते हुए लिखा है, "उस समय सामान्य अरहंतों की ही प्रतिमाएँ होती थीं" तीर्थंकरों की नहीं, क्योंकि जैन उपासना का उद्देश्य वीतरागता की प्राप्ति है, पूर्णत: कषाय मुक्त होना है और वीतराग अरहंत स्वरूप को इंगित करनेवाली प्रतिमाएँ कि जिनके दर्शन से वीतराग भाव पैदा होजावे उनकी उपासना से उस उद्देश्य की पूर्ति होजाती थी। क्योंकि पंचकल्याणक तो तीर्थंकरों के ही होते हैं, सामान्य अरहंतों के नहीं अत: उपरोक्त से यह भी सिद्ध है कि प्राचीनकाल में आज कल की सी पंचकल्याणक प्रतिष्ठा विधि भी नहीं थी। परन्तु बाद के समय में जब हिन्दू धर्म के प्रभाव से वर्तमान प्रतिष्ठा विधि चालू हुई तो जो

प्रतिमाएँ पहले से पूजी जारही थीं उन्हें भी प्रतिष्ठित मानलिया गया और ऐसी प्रतिमाएँ अब भी मौजूद हैं।

(3) जैन मंदिरों में अकृत्रिम चैत्यालयों की पूजा की जाती है और अकृत्रिम से यह आशय लिया जाता है कि उन चैत्यालयों और उनमें विराजमान प्रतिमाओं का कोई निर्माता नहीं है अत: उनकी प्रतिष्ठा की भी आवश्यकता नहीं है। यहाँ प्रश्न यह है कि मंत्र संस्कार और पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के उद्देश्य की पूर्ति उनका कोई निर्माता न होने मात्र से ही उन अप्रतिष्ठित प्रतिमाओं में कैसे मानली जाती है? क्या इससे भी यह सिद्ध नहीं होता कि प्रतिष्ठा के लिए मंत्र संस्कार व पंचकल्याणक करना आवश्यक नहीं है।

युक्तियों से मेरी दलीलों का खंडन करने में अपने आपको असमर्थ पाकर वर्तमान प्रतिष्ठाविधि के समर्थक कुछ विद्वानों ने लिखा है कि इस प्रकार मूर्ति प्रतिष्ठा को सस्ती बना देने पर खिलौना और मूर्ति में कोई अंतर नहीं रहेगा, घर घर में मूर्ति होजावेगी, अनादर होगा, फिर तो लोग शौचालय और मूत्रालय में भी मूर्तियों को लगाने लगेंगे। यह उन महानुभावों का भ्रम मात्र है। मेरा उनसे प्रश्न है कि जब पत्रिकाओं, केलेन्डर आदि में तीर्थंकरों के चित्र प्रकाशित होना चालू हुआ तब यही आपत्ति उनने उस समय क्यों नहीं की, उसे क्यों नहीं रोका? भ० महावीर के 2500 वें निर्वाणोत्सव के समय उनके चित्र सहित हजारों कैलेंडर आदि क्यों प्रकाशित किये गये? क्या चित्र भ० महावीर की स्मृति नहीं दिलाते? यदि दिलाते हैं तो उनके अविनय की व अनेकों चित्र रद्दी में डाल दिये जाने की चिंता क्यों नहीं? मंत्रोपचार व पंचकल्याणक कराये बिना ही यदि प्रतिमाओं को विजरामान कर आजकल के व्यस्त जीवन व मंदिर दूर होने के कारण लोग उन प्रतिमाओं से प्रेरणा प्राप्त करलें तो उससे क्या बिगड़ जावेगा? वास्ताविकता यह है कि दूसरे लोगों से अपनी मूर्ति पूजा की प्रशंसा करने के लिए हम कहते तो यह कि हम बुतपरस्त नहीं हैं, हम तो वीतरागता की प्राप्ति के लिए प्रतिमाओं से

प्रेरणा लेते हैं। परन्तु **वास्तव में हम पक्के बुतपरस्त बन गये हैं। हमने मूर्ति को ईश्वरकर्तृत्ववादियों का सा कर्ताहर्ता भगवान बना दिया है** जिसके कारण कोई महावीरजी का इष्ट रखता है, कोई ऋषभदेवजी का, कोई चंदाप्रभुजी आदि का और अब तो [redacted] मूर्तियों की प्रतिष्ठा कराकर भावी तीर्थंकर के रूप में पूजने की मूढ़ता और फैलाई जारही है और अंध भक्त लोग ऐसी मिथ्या बातों पर भी विश्वास कर रहे हैं।

इस प्रकार मूर्ति प्रतिष्ठा में मंत्र संस्कार तथा पंचकल्याणक करने का कोई औचित्य नहीं है। इस विधि के विना मूर्ति को वेदी में प्रतिष्ठित करके उपासना प्राचीन काल में भी की जाती थी और उन मूर्तियों में उनके पूज्यता के भाव भी होते थे। अकृत्रिम प्रतिमाएँ भी तो वर्तमानुसार अप्रतिष्ठित ही हैं। इसी प्रकार गजरथ निकालने का भी कोई औचित्य नहीं है।

क्या पूजा उपासना व्यवहार धर्म है ?—हमारे व्यक्तित्व के दो रूप हैं, एक का सम्बन्ध आत्मा से है और दूसरे का संबंध शरीर से और कुटुम्ब, समाज आदि शरीर संयोगों से हैं। अस्तु, **धर्म भी दो प्रकार का है–एक निश्चय धर्म अर्थात् अध्यात्म, दूसरा व्यवहार धर्म अर्थात् सामाजिक कर्तव्य।** निश्चय धर्म का संबंध आत्मा से है, उसके सुख व शान्ति से है, वह कषाय मुक्ति स्वरूप है और उसका विवेचन इस पुस्तक के आदि में काफी किया जा चुका है। आत्मिक सुख शांति के लिए यही उपादेय है। व्यवहार धर्म से वह नहीं मिल सकती। अतः इस दृष्टि से व्यवहार धर्म को हेय कहा जा सकता है।

व्यवहार धर्म का संबंध शरीर से और कुटुम्ब, समाज आदि शरीर संयोगों के सुख व शांति से है। हिंसा न करना (किसी को दुःख न देना), झूठ न बोलना (झूठ न बोलने वाला काला बाजार आदि कोई अनैतिक कार्य नहीं कर सकता), चोरी न करना (दूसरे की चीज को बिना दिये न लेना), अपनी पत्नि व पति में संतोष रखना, परिग्रह परिमाण (धन संपत्ति में ममत्व इतना कम कर देना कि वह समाज में संघर्ष और अशांति

का कारण न बने। परिग्रह परिमाण के लिए संयमी जीवन भी आवश्यक है)। यह साधारण गृहस्थ की दृष्टि से अणुव्रत रूप व्यवहार धर्म है कि जिसका प्रत्येक व्यक्ति पालन करे तो समाज में सुख व शांति रहेगी, किसी प्रकार का शोषण व संघर्ष नहीं होगा और एक राज्य सत्ता विहीन आदर्श समाज की स्थापना संभव होगी। इस प्रकार व्यवहार धर्म तो सब का सामाजिक कर्तव्य है और सामाजिक सुख शांति के लिए यही उपादेय है। जो लोग समाज के सहयोग से अपनी देहिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने को तो हेय नहीं बताते परन्तु अणुव्रत रूप व्यवहार धर्म को हेय बताते हैं अर्थात् समाज के प्रति अपना कोई कर्तव्य नहीं समझते, उन्हें समाज में रहने का अधिकार नहीं है, उन्हें जंगल में चला जाना चाहिए।

धर्म तो जीवन में धारण करने की, जीवन में उतारने की वस्तु है। जितनी मात्रा में कषाय मुक्ति होगी उतनी मात्रा में समता भाव होकर आत्मिक सुख शान्ति भी अवश्य मिलेगी। यह निश्चत धर्म है। इसी प्रकार अणुव्रत व संयम मय धर्म के पालन से भी कषाय मुक्ति की साधना के लिए शरीर उपयुक्त स्थिति में रहेगा तथा कुटुम्ब, समाज आदि की सुख शांति होगी अतः वह व्यबहार धर्म है। अरहंतों की पूजा उपासना तो धर्म का साधन मात्र है, उसका धर्म के साथ कार्य कारण (अविनाभाव) संबंध भी नहीं है, उसे धर्म नहीं कहा जा सकता। उसे ही धर्म मान लेने का तो यह परिणाम हुआ है कि उपासना संबंधी आडम्बर व क्रियाकांड ने धर्म का स्थान ले लिया है। प्रति वर्ष अनेकों पंचकल्याणक प्रतिष्ठाओं, गजरथों आदि में धर्म के नाम पर लाखों रुपया बहाया जारहा है। जंबूद्वीप रचना पर तो लाखों रुपया व्यय हो ही चुका है और अब भी होरहा है, अभी हस्तिनापुर में ही नंदीश्वर द्वीप रचना का निर्माण और किया जाकर उसकी भी प्रतिष्ठा हो चुकी है। इन्दौर के पास गोमट्टगिरि निर्माण का भी विशाल आयोजन है परन्तु धर्म का ह्रास होरहा है, इसकी ओर नेताओं की दृष्टि नहीं है। यह जानते हुए भी कि 'न धर्मो धार्मिकैः बिना' वे जड़ के निर्माण में ही धर्म मान रहे हैं और वास्तविक निश्चय धर्म और व्यवहार धर्म दोनों उपेक्षित होगये हैं।

उपसंहार

जैन तीर्थंकरों ने ईश्वर कर्तृत्व के विरुद्ध क्रांति की थी और कहा था कि अपने भाग्य का निर्माता आत्मा स्वयं ही है। कोई बाहरी शक्ति न तुम्हें कुछ दे सकती है, न तुम्हारे पाप माफ कर सकती है, जैसे कर्म करोगे, वैसे फल भोगना ही पडेगा। यह भेद विज्ञान धर्म की सबसे पहली आवश्यकता है। इसके बिना सब आचरण व क्रियाकांड निरर्थक हैं। यह कोई ऊंचे अध्यात्म की बात नहीं है कि जिसे साधारण लोग न समझ सकें। तथा इसके बाद दुःखों से मुक्ति का उपाय भी केवल कषाय (रागद्वेष) मुक्ति है। तीर्थंकरों की उपासना का उद्देश्य मात्र इतना ही है कि उनसे प्रेरणा लेकर हम भी अपने पुरुषार्थ को जगाकर और साधना करके कषाय मुक्त होकर उन जैसा बनने का प्रयत्न करें। इसके लिए भावना (auto suggestion) का ही महत्व है कि बार बार भावना करके कषाय के संस्कारों को ढीला किया जावे व तोडा जावे। अरहन्तों की प्रार्थना करके आत्मशक्ति को नहीं जगाया जा सकता, क्योंकि प्रार्थना करने वाले में हीनता की मनः स्थिति होती है। परन्तु ईश्वर कर्तृत्ववादी धर्मों के प्रभाव से हमारे यहां भी प्रार्थना चालू हो गई। तीर्थंकरों को अलौकिक बना दिया गया, इससे हममें हीनता की भावना पैदा हो गई और हम भी प्रार्थनाएँ करके उनसे मांगें करने लगे, वीतराग तीर्थंकर प्रतिमाओं में चमत्कार की अपेक्षा करने लगे और शासन देवता भी कल्पित कर लिये जबकि वास्तविकता यह है कि चमत्कार भी साधक की की स्वयं की संकल्प शक्ति में ही होते हैं, किसी देवता या तीर्थंकर प्रतिमा के अतिशय में नहीं। इस मनः स्थिति के परिणाम स्वरूप अरहन्तों को अलंकारों से सजाना और उनकी अष्ट द्रव्य पूजा, आवाहन, विसर्जन, पंचकल्याणक प्रतिष्ठा आदि आडम्बर व क्रियाकांड भी चालू होगया। वास्तविक धर्म उपेक्षित होकर, क्रियाकांड के कारण धर्म धन-साध्य होगया। प्रतिष्ठा आदि बडे बडे धार्मिक आयोजनों में तो काले धन का ही उपयोग

होता है अतः जो पैसे वाला है वही धर्मात्मा के रूप में प्रतिष्ठा पाता है। साधु भी अधिकांश धनवानों पर ही निर्भर हैं। दूसरे लोग कहते हैं कि महावीर के अपरिग्रहवादी समाजवाद का गीत गाने वाले लोग ही खूब परिग्रही हों, गरीबी के बीच अपने वैभव का खूब प्रदर्शन करें—यह कहां तक ठीक है ?

यह सही है कि साधारण लोगों को धर्म में लगाये रखने के लिए क्रियाकांड व उत्सव आदि भी आवश्यक हैं। परन्तु वर्तमान में हमारा पूजा उपासना सम्बन्धी जो भी क्रियाकांड है वह अरहन्तों के प्रति ईश्वरकर्तृत्व-भाव को ही पुष्ट करता है कि जिसके विरुद्ध ही भ० महावीर ने क्रान्ति की थी। अतः प्रचलित क्रियाकांड तो अधिकांश उपासना पद्धति में पैदा हुआ विकार है, उसका विकास नहीं है, न व्यवहार धर्म है। इसमें उपरोक्त दृष्टि से बहुत परिवर्तन अपेक्षित है।

आवश्यकता है कि प्रबुद्ध जैन बन्धु व नवयुवक चेतें और इस वैज्ञानिक जैन धर्म में आई हुई उपासना सम्बन्धी विकृतियों को दूर कर समय की मांग को पूरा करें। जैन धर्म तो परीक्षा प्रधानी धर्म है। वह किसी भी बात को धर्म नहीं मानता जो विज्ञान व युक्ति विरोधी हो। जैसा कि पहले बताया गया है, प्राचीन काल में मन्दिर के वातावरण को शुद्ध व सुरभित करने के लिए केवल धूप आदि सुगन्धित पदार्थों का ही उपयोग किया जाता था, अष्ट द्रव्य पूजा तथा अन्य आडम्बर बाद में पैदा हुए और बढ़ते गये। इस पुस्तक के प्रथम संस्करण के प्रकाशन के बाद से ही बिना अष्टद्रव्य की जाने वाली पूजा की मांग आरही थी। अतः विद्यावारिधि डा० महेन्द्रसागरजी प्रचंडिया, डा० नरेन्द्रजी भानावत और अध्यात्म के प्रसिद्ध विद्वान कविवर श्री जुगलकिशोरजी जैन 'युगल' की सर्व सम्मति से सर्व श्रेष्ठ रचना के रूप में पुरस्कृत देव शास्त्र गुरु की "आदर्श नित्य नियम पूजा" भी प्रकाशित कराई जा चुकी है। अब आवश्यकता है कि पूर्वोक्त विकृतियों के विरुद्ध आंदोलन किया जावे, ऐसे समारोहों का बहिष्कार किया जावे और मन्दिरों में **वीत-**

राग अरहन्तों की प्रतिमाओं के समक्ष प्रतिदिन सामूहिक रूप से उपरोक्त आदर्श नित्य नियम पूजा व स्वाध्याय आदि की परिपाटी चालू की जावे ताकि क्रियाकांड से दृष्टि हटकर वास्तविक धर्म पालन की प्रेरणा मिले। शास्त्र सभा की परम्परा में नवीनता लाई जावे, उसे प्रेरक बनाया जावे। अपरिग्रह का उपदेश देने वाले धर्म के **मन्दिर भी** ऐसे होने चाहिये, जहाँ अरहन्तों की वीतराग प्रतिमा और वैसे ही **शांत व सादगी के वातावरण के अतिरिक्त कोई आडम्बर व परिग्रह नहीं हो।** इस समय जिन मन्दिरों में हमने धन सम्पत्ति इकट्ठी कर रक्खी है वहीं हमारे आपसी लड़ाई-झगडे हैं और चोरियाँ भी होती हैं। अतः मन्दिरों को भी हमारे सिद्धान्तों के अनुरूप रूप देने का प्रयत्न किया जावे। उपरोक्त सुधार से जहाँ एक ओर मूर्ति पूजक जैन समाज का लाखों रुपया प्रतिवर्ष पूजा प्रतिष्ठा सम्बन्धी क्रियाकांडों में बरबाद होरहा है उसका समाज हित के कामों में सदुपयोग हो सकेगा, वहां दूसरी ओर अन्य लोगों में जैन धर्म व जैन समाज के प्रति जो गलतफेमियां हैं वे दूर होकर बुद्धिवादी जैन धर्म के प्रति उनका आकर्षण बढ़ेगा। धार्मिक वे नहीं हैं कि जो केवल नाम से जैन हैं, प्रत्युत वे हैं कि जो कर्म से (आचरण से) जैन हैं। आज चारों ओर अनैतिकता फैली हुई है, हिंसा, झूंठ, भ्रष्टाचार का बोलबाला है, मूल्यों पर भयावह संकट है। एक ओर धर्म की, आत्मा और निश्चय धर्म की बडी बडी बातें की जाती हैं और दूसरी ओर नीलामी बोलियों आदि द्वारा नंबर दो का पैसा संग्रह करके और देने वालों को प्रतिष्ठा देकर धर्म के नाम पर काली कमाई को प्रोत्साहित किया जाता है। **काश! हम हृदय पर हाथ रखकर सोचें कि हम कहाँ खड़े हैं। हमारी नई पीढी भी मुख्यतया क्रियाकाँड तथा हमारे अधार्मिक आचरण के कारण ही धर्म से विमुख होती जारही हैं,** उसमें शराब, मांस, अंडा आदि का चलन बढ रहा है। क्या इसके लिए उत्तरदायी हमारे वे साधु व विद्वान नहीं हैं कि जो धार्मिक शिक्षा आदि द्वारा उसमें संस्कार डालने को उचित महत्व न देकर समाज का लाखों रुपया पंचकल्याणक, गजरथ, इन्द्रध्वज विधान आदि प्रदर्शनों में ही खर्च करवा कर धर्म की प्रभावना मान रहे हैं। आवश्यकता

है कि हम धर्म को आडम्बर रहित सरल रूप में उसके सामने रखकर उसे बतावें कि सब प्रकार के तनावों से रहित शारीरिक स्वास्थ्य और वर्तमान जीवन के सुख के लिए भी धर्म आवश्यक है।

अभिमत

(प्रसिद्ध जैन विद्वान् डा० नथमलजी टाटिया
निदेशक, जैन विश्व भारती, लाडनूं से प्रथमावृत्ति के समय प्राप्त)

आपके पत्र के साथ "जैन मूर्ति–पूजा में व्याप्त विकृतियाँ" पुस्तक की पाण्डुलिपि मिली। धन्यवाद। जैन धर्म शुद्ध आध्यात्मिक धर्म है। इसमें क्रिया-काण्ड का नाम मात्र को भी स्थान नहीं है। फिर भी काफी विकृतियाँ उत्पन्न हैं और धर्म के नाम पर इन्हीं को महत्व दिया जाता है। आपने इन सब बातों का विवेकपूर्ण शैली में अच्छा विवेचन किया है। आशा है कि बाह्य क्रियाकांड को ही धर्म मान लेने वाले लोग इसे पढकर जैन धर्म के मूलभूत अध्यात्म पक्ष को विकृत होने से बचाने में समर्थ होंगे। मैं आपके विचारों का स्वागत करता हुआ अपनी शुभकामनायें भेज रहा हूँ।

नथमल टाटिया

प्रथमावृत्ति के बाद पुस्तक की प्रशंसा में बहुत अभिमत आये हैं तथा कुमार गांव (जि० सोलापुर) के एक त्यागी महानुभाव ने तो स्वयं ही द्वितीय संस्करण के प्रकाशन का आधा व्यय भी भेजकर बिना मूल्य वितरण में सहयोग किया। सबके आभारी हैं।